कारण पुत्री के पालन पोषण में असमर्थ थे । अत: राव दूदा मीरा को अपने पास मेड़वा ले आए । राव दूदा के सान्निध्य में रहकर मीरा पलने लगीं और उनसे वैष्णव भक्ति का प्रभाव भी ग्रहण करने लगीं । मीरा के हृदय गिरिधर गोपाल के प्रति अनन्य आस्था का जन्म उन्हीं दिनों हुआ ।

सन् 1516 ई० में मीराबाई का विवाह चित्तौड़ के राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज से हुआ, किन्तु सात वर्ष पश्चात् ही भोजराज का देहांत हो गया । मीरा का अंतर्मन व्यथा से भर गया । बचपन में संस्कार रूप में कृष्णानुराग के अतिरिक्त अब उनका कोई संबल न था । वे स्वयं को अजर-अमर स्वामी कृष्ण की चिरसुहागिनी मानने लगीं ।

मीरा तथाकथित लौकिक बंधनों से मुक्त हो गईं और लोक-लाज छोड़कर निश्चिंत भाव से साधुसंगति एवं भक्ति भावना में लीन हो गईं । राणा सांगा की मृत्यु के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी विक्रमसिंह के लिए मीरा का यह आचरण असह्य था । उसने मीरा को अनेक यातनाएँ दीं, पर मीरा अपने मार्ग पर अडिग रहीं । वे पुष्कर यात्रा करती हुई वृंदावन गईं, जहाँ उनकी भक्तिधारा मधुरोपासना के रस में निमज्जित हुई । कुछ समय बाद वे वृंदावन छोड़कर द्वारका चली गई और वहीं रणछोड़ जी के मंदिर में भगवान की मूर्ति के सम्मुख एकाग्र भाव से भजन-कीर्तन करते हुए शेष जीवन व्यतीत किया ।

मीराबाई का काव्य उनके हृदय से निकले सहज प्रेमोच्छ्वास का साकार रूप है । व्याकुलता एवं वेदना उनकी कविता में निश्छल अभिव्यक्ति पाती है । उनकी वृत्ति एकांतत: प्रेम-माधुरी में रमी है । अपने आराध्य 'गिरिधर गोपाल' की विलक्षण रूप छटा के प्रति उनकी 'अनन्य आसक्ति अनेक भाव धाराओं में फूट पड़ी है । मीरा के काव्य का प्रमुख रस वियोग श्रृंगार है । उनकी विरह भावना का कोई ओर-छोर नहीं है । प्रमोन्मादिनी मीरा का एक-एक पद उनके हृदय की भावुकता का परिचायक है ।

मीरा की कविताओं की भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रज है । उनके पदों में गुजराती भाषा का भी विशेष पुट है । खड़ी बोली और पंजाबी का भी उस पर प्रभाव है । उनके पद विभिन्न राग-रागिनियों में आबद्ध हैं । संगीत और छंद विधान की दृष्टि से उनका काव्य अत्यंत उच्च कोटि का है ।

रसखान (1548-1628) - रसखान विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे । ये जन्म से मुसलमान थे । कृष्णभक्त कवियों में इनका स्थान अप्रतिम है । इनकी भाषा बहुत चलती, सरल और शब्दाडंबरमुक्त है । इनकी दो छोटी-छोटी पुस्तकें प्रकाशित हैं - 'प्रेमवाटिका' और 'सुजान रसखान' । प्रेमवाटिका दोहे में हैं तथा सुजान रसखान कवित्त-सवैयों में । रसखान ने अन्य कृष्णभक्तों की तरह 'गीतिकाव्य का सहारा न लेकर कवित्त-सवैयों में अपने उत्कट कृष्ण प्रेम की व्यंजना की है । सच्चे प्रेम से परिपूर्ण इनके सवैये अत्यंत प्रसिद्ध हैं -

मानुष हौं तो वहै रसखान बसौं संग गोकुल गाँव के ग्वारन ।
जौ पसु हौं तो कहा बसु मेरो चरौ नित नंद की धेनु मँझारन ।।
पाहन हौं तो वहै गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरंदर धारन ।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदंब के डारन ।।

कृष्णोपासक भक्त कवियों की परम्परा यहीं समाप्त नहीं होती । स्वामी हरिदास, हित हरवंश, हरिराम व्यास, सुखदास, लालचदास, नरोत्तर दास, अलबेली अली, भगवत रसिक आदि अनेक पहुँचे हुए भक्त कवि हो गए हैं, जिनकी रचनाएँ उच्च कोटि की हैं ।

11.7 अभ्यास के प्रश्न

1. निर्गुण ज्ञानमार्गी कवियों का परिचय लिखिए ।
2. निर्गुण प्रेममार्गी कवियों का परिचय दीजिए ।
3. सगुण राममार्गी कवियों का परिचय दीजिए ।
4. सगुण कृष्णमार्गी कवियों का परिचय दीजिए ।

भक्तिकाल की विशेषताएँ

पाठ संरचना

12.0 उद्देश्य
12.1 परिचय
12.2 ज्ञानमार्गी शाखा की विशेषताएँ
12.3 प्रेममार्गी शाखा की विशेषताएँ
12.4 कृष्णभक्ति शाखा की विशेषताएँ
12.5 रामभक्ति शाखा की विशेषताएँ
12.6 अभ्यास के प्रश्न

12.0 उद्देश्य

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल एक ऐसी कालावधि का सूचक है, जब हिन्दी साहित्य ने बहुविध उत्कर्षता हासिल की । एक बड़ा विलक्षण संयोग है कि इस युग में सम्पूर्ण भारतवर्ष में जैसे भक्ति की लहर सी पैदा हो गई हो । सहसा विश्वास ही नहीं होता कि उसी कालावधि में महाराष्ट्र में तुकाराम, मध्य प्रदेश में सूर, तुलसी, कबीर तथा जायसी, गुजरात में नरसी मेहता, राजस्थान में मीरा, बिहार में विद्यापति, बंगाल में चंडीदास तथा आसाम में शंकरदेव जैसे भक्तकवि एक ही समय में कहाँ से और कैसे आविर्भूत हो गए । इस इकाई का उद्देश्य भक्तिकाल की विशेषताओं से छात्रों को परिचित कराना है ।

12.1 परिचय

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आचार्य शुक्ल जिसे पूर्व मध्यकाल कहते हैं वही भक्तिकाल कहलाता है । भक्ति आंदोलन की महत्त्वपूर्ण यह विशेषता थी कि उसने राजनैतिक और सामाजिक रूप से अशांत उत्तर भारत को एकता के प्रगाढ़ सूत्र में आबद्ध करने का ऐतिहासिक प्रयत्न किया । भगवद्भक्ति की जो लहर दक्षिण से उठी थी वह उत्तर भारत की परंपरा से समन्वित होकर सम्पूर्ण भारत में व्याप्त हो गई । मध्यकालीन भारतीय साहित्य का मूल स्वर ही भक्ति का रहा है । भक्तिकाल में चार प्रकार की काव्यधाराएँ थीं । इस पाठ में हम इन चारों काव्य धाराओं की विशेषताओं पर अलग-अलग विचार करेंगे ।

12.2 ज्ञानमार्गी शाखा की विशेषताएँ

निर्गुण भक्तिधारा के कवि साधकों को संत शब्द से अभिहित किया जाता रहा है । संत काव्य का वर्ण्य विषय अधिकतर धार्मिक और दार्शनिक ही है । उसमें परमात्मा तत्त्व की चर्चा आती है, जिसमें वस्तुतः अज्ञेय तथा

अनिर्वचनीय स्वरूप का परिचय कराने की कोशिश की गयी है । जगत एवं जीव के वास्तविक संबंध का निरूपण प्रमुखता से किया गया है । इन रचनाओं में संत उस अव्यक्त सत्ता को एक विलक्षण व्यक्तित्व प्रदान करते जान पड़ते हैं । निर्गुण ब्रह्म को सगुण भगवान की भाँति इष्टदेव के रूप में स्वीकार कर उसके प्रति भक्ति और प्रेम का भाव प्रदर्शित करते प्रतीत होते हैं । वे उसकी महिमा का गान करते नहीं अघाते । उनके उद्‌गार स्वानुभूति की तीव्रता और तजन्य आनंद से प्रेरित रहा करते हैं । वे किसी एक धर्म को चाहे वह हिन्दू, इस्लाम, बौद्ध जैन अथवा शाक्त शैव कोई हो अपने लिए आदर्श नहीं मानते ।

संत काव्य के अन्तर्गत रखी जानेवाली रचनाएँ भावप्रधान हैं, क्योंकि उनमें रचयिता का ध्यान जितना भाव की ओर जाता दीख पड़ता है उनका उनके शब्द और शैली में नहीं । उच्च से उच्च और गंभीर से गंभीर भाव को भी सदा ही सर्वसाधारण की ही भाषा में व्यक्त करते हैं और उन्हीं मुहावरों में उनका स्पष्टीकरण भी करते हैं । उनका उद्देश्य अपनी कृतियों द्वारा जितना सहृदय जनों का मनोरंजन करना नहीं रहता उतना सांसारिक प्रपंचों में पड़े हुए लोगों को अपने मतानुसार सच्चे मार्ग का परिचय कराना रहता है । वे दूसरे के रचित या जीवन का वर्णन करना उचित नहीं समझते जितना अपनी ही अनुभूति की अभिव्यक्ति करना । स्वानुभूति की अभिव्यक्ति वे बहुधा पूर्ण सफलता से कर भी नहीं पाते । कई बार उपयुक्त शब्दों के अभाव में वे अपने कथन को रहस्यमय भी बना देते हैं ।

संत कवि अपने विषयों को विशेषकर अपनी साखियों तथा पदों के माध्यम द्वारा प्रतिपादित करते हैं । साखियों को ये संत 'ज्ञान की आँखें' कहते हैं । इसीलिए इन साखियों में प्रधानतः ऐसे विषय ही रहते हैं जिन्हें संतों ने अपने दैनिक जीवन में भलीभाँति समझकर प्रमाणित कर लिया है । ये रचनाएँ 'दोहा' नामक छंद में पाई जाती हैं । कदाचित् इन्हें सोरठा में भी व्यक्त किया गया है । इसके अतिरिक्त संतों की साखियों के अन्तर्गत बीच-बीच में सार, हरिपद, चौपाई, दोही, सरसी, गीता, मुक्तामणि, श्याम उल्लास या छप्पय जैसे छंद भी आ जाते हैं ।

संतों की 'सबद' अथवा 'पद' नामक रचनाएँ अधिकतर गेय हुआ करती हैं । उनमें उनके आत्मनिवेदन जैसे व्यक्तिगत उद्‌गारों की ही प्रधानता रहती है । आकार की दृष्टि से ये पद छोटे या बड़े सभी प्रकार के हो सकते हैं, किन्तु इनकी कोई-न-कोई पंक्ति ऐसी भी होती है जो 'टेक' या 'रहाउ' के रूप में दुहराई जाती है । इनकी दोहा-चौपाइयाँ एक साथ क्रमिक रूप में आकर किसी विषय के विवरणात्मक वर्णन के लिए अधिक उपयुक्त ठहरती है । तथापि संतों ने इनके माध्यम से किसी प्रबंधकाव्य की रचना का प्रयास नहीं किया है । संतों की रचनाओं में कुछ ऐसे पद एवं पद्य-समूह भी मिलते हैं, जिनमें सांप्रदायिक बातों का उल्लेख तथा पौराणिक वर्णनों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं पाया जाता ।

संतकाव्य के अंतर्गत गिनी जानेवाली कुछ ऐसी रचनाएँ मिलती हैं, जिनका लोकगीतों के अवशिष्ट रूप में अपना एक अलग महत्त्व है । ऐसी रचनाओं में हम चाँचर, बसंत, फाग, हिंडोला, बेलि, ककहरा, बणजारा, व्याहलो, विरहुली आदि के नाम गिना सकते हैं । सर्वसाधारण में गाए जानेवाले गीतों के आधार पर ये संत कवि कोई न कोई रूपक निर्मित कर लेते थे । 'कबीर-बीज' में तो 'बिरहुली तथा 'विग्रमतीसी' शीर्षकों से भी दो रचनाएँ मिलती हैं । बहुत से संत रचनाओं में हमें कवित्त, सवैयों, कुंडलियाँ जैसे छंदों तथा गजलनुमा रचनाओं, रेखता एवं फारसी बहरों के भी उदाहरण मिलते हैं । ऐसे ही ठुमरी, तिल्लाना जैसे गाने भी यहाँ पाए जाते हैं ।

उपर्युक्त विश्लेषण के उपरांत संत काव्य की सामान्य विशेषताओं को क्रमशः रेखांकित कर सकते हैं :- (1) ज्ञानाश्रयी शाखा की पहली विशेषता निर्गुणवाद तथा नाम की उपासना है हालाँकि संत कवियों का यह निर्गुणवाद

विशुद्ध निर्गुणवाद नहीं, क्योंकि ये संत भक्त भी थे और भक्त के लिए गुणों का आशेषण अत्यंत अपरिहार्य है । फिर यह निर्गुणवाद भारतीय चिंतन की उपज है । उस परंपरा से संबंधित है । यहाँ निर्गुण ईश्वर में आस्था है । तभी प्रायः इनमें सगुण ईश्वर के प्रति विरोध और निर्गुण ईश्वर के प्रति सर्वत्र विश्वास का आग्रह है - ''राम नाम तिहूँ लोक बखाना, राम नाम का मरम न जाना ।'' इनके राम को वेद, पुराण, स्मृतियाँ इत्यादि में नहीं खोजा जा सकता है । राम इनका प्रियतम है जो घट-घट में निवास करता है । उसे बाहर खोजना बेकार है । (2) ज्ञानाश्रयी शाखा में अंतस्साधना पर विशेष बल दिया गया है । यहाँ बाह्याडंबरों एवं मिथ्याचारों का कड़ा विरोध किया गया है । पंडितों, ज्ञानियों की एक साथ निंदा की गई है । यहाँ तक कि इसी कारण वेदादि ग्रंथों का अध्ययन भी उनकी दृष्टि में नितांत व्यर्थ है । रूढ़ियों और आडम्बरों का विरोध करते हुए मूर्ति-पूजा, तीर्थाटन, हिंसा, व्रत, रोजा नमाज आदि बाह्याडंबरों का उन्होंने पुरजोर विरोध किया । एक ओर वे हिन्दुओं को कहते थे - 'पाहन पूजै हरि मिलै, तो मैं पुजूँ पहाड़'' तो दूसरी ओर मुसलमानों से भी यह कहते थे -

काँकर पाथर जोरि कै मस्जिद लई चुनाई ।
ता चढ़ि मुल्ला बाग दै, क्या बहरा हुआ खुदाई ।।

(4) संत काव्य की एक खास विशेषता यह है कि इसमें अंतस्साधना पर तो बल था जरूर परंतु नाथपंथियों, योगियों या सिद्धों की भाँति वह नीरस और शुष्क न होकर सरस और सहज है । इसमें सहज भजन और सहज साधना पर बल दिया गया है ।

(5) संत कवियों ने प्रेम का बड़ा ही विशद वर्णन किया है और प्रेम को भगवान की प्राप्ति का प्रमुख और महत्त्वपूर्ण साधन माना है । इस प्रेमभाव के आधिक्य के कारण ही इनके काव्य में अद्‌भुत माधुर्य तथा सरसता उत्पन्न हो गई है । कबीर कहते हैं -

''प्रेम न बाड़ी ऊपजे प्रेम न हाट विकाय
राजा परजा जेहि रूचै सीस देइ ले जाय ।''

(6) संतकाव्य में गुरु की महत्ता पर अत्यधिक बल दिया गया है । यहाँ गुरु को परमात्मा सदृश माना गया है बल्कि कई बार गुरु को ईश्वर से भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है । गुरु का महत्त्व वैसे सगुण भक्ति में भी माना गया है । गुरु की महिमा का बखान करते हुए कबीर कहते हैं ।

गुरू गोविंद दोऊ खड़े काको लागूँ पाँय ।
बलिहारी गुरू अपनो जिन गोविंद दियो बताय ।

(7) सामाजिक समस्याओं के विषय में भी संत-कवियों का दृष्टिकोण काफी उदार था । वर्ण-व्यवस्था तथा जाति के कारण उत्पन्न सामाजिक भेदभाव की भावना का संत कवियों ने अत्यन्त तीव्रता से विरोध किया । परंतु यह विरोध इस्लामी प्रभाव नहीं था । ये सोच में ही जाति-पाति के विरोधी थे । इनकी एक ही जाति थी 'हरिजन', वे कहते थे -

जाँति पाँति पूछै ना कोई । हरि को भजे सो हरि का होई ।

(8) निर्गुण भाव की चिंतन-पद्धति शत-प्रतिशत भारतीय है जो सिद्धों तथा हठयोगियों की परंपरा से संबंधित है । न संतों ने अपने हिसाब से खास विशेषताओं के साथ उसे अपनाया ।

(9) निराकार ईश्वर की उपासना के कारण संत कवियों ने अपने इष्टदेव को स्थापित किया है। वर्णन की यह पद्धति रहस्यात्मक है। इसी रहस्यात्मक पद्धति से उस अक्षय-अखंड तत्त्व को समझाया गया है। यही रहस्यवाद है। संत कवियों की सामान्य प्रवृत्ति ही रहस्यात्मक रही है। प्रणयानुभूति के क्षेत्र में ये संत खंडनात्मक प्रवृत्ति से परे हो जाते हैं। इनका हृदय तरलायित हो जाता है। विशेषकर दाम्पत्य प्रतीकों के प्रयोग में इनकी विरहोक्तियाँ काफी सहज, स्वाभाविक और विश्वसनीय बन पड़ी है। संतो का रहस्यवाद शांकर अद्वैत से प्रभावित है -

'जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहर भीतर पानी।

(10) निर्गुणोपासक संत के लिए परमात्मा का प्रेम और तत्सम्बन्धी अनुभूतियाँ गूँगे के गुड़ के सदृश होती हैं, जिनका आनंद तो वह अनुभव करता है, परंतु उस आनंद का शब्दों में बयान नहीं कर सकता। रहस्यवाद का मूल वास्तव में भक्त की इसी स्थिति में है। इसमें जीवात्मा एवं परमात्मा के संबंधों के प्रदर्शन के लिए - 'हरि मेरो पिउ मै राम की बहुरिया'' को ही अपनाया गया।

(11) संत काव्य में सर्वत्र अवतारवाद और बहुदेवतावाद का विरोध-दिखाई पड़ता है। इस विरोध के दो कारण थे। एक कारण तो था शांकर अद्वैत का गहरा प्रभाव और दूसरा तत्कालीन शासकों की तद्नुकूल मानसिकता। ये मुसलमान शासक भी तो एकेश्वरवादी थे न।

(12) ये संत गृहस्थ थे, योगी नहीं। इसी कारण ये वैयक्तिकता के स्थान पर सामाजिकता पर बल देते थे। ये भक्ति के उन्नायक भी हैं और समाज के सुधारक भी।

(13) संत काव्य में नाम की महत्ता का बखान किया गया है। नाम स्मरण के कारण ही ये 'प्रेम के ढाई आखर' पर बल देते हैं।

(14) संतों ने नारी और माया को अपनी साधना के मार्ग में अत्यधिक बाधक तत्त्व के रूप में देखा है। इन्होंने नारियों को दुर्गम घाटियों के रूप में ही स्वीकार किया है। परन्तु पतिव्रता नारी के लिए इन संतों को सम्मान है -

''पतिव्रता मैली भली, काली कुचित कुरूप।
पतिव्रता के रूप पर बारौं कोटि सरूप ॥''

(ख) शैली पक्ष - संत कवियों ने कविता के लिए कविताएँ नहीं की है। इन कवियों की भाषा मूल ढाँचा तो खड़ी बोली ही है, किन्तु व्याकरण एवं शब्द प्रयोग अनेक बोलियों से लेकर किए हैं। विभिन्न भाषाओं एवं बोलियों के शब्दों के इसी प्रयोग के कारण ही आचार्य शुक्ल ने इनकी भाषा को 'सधुक्कड़ी' नाम दिया। शृंगार और शांत रस ही संत काव्य में अधिक हैं।

छन्दों की दृष्टि से संतों ने 'साखी' और 'सबद' का प्रयोग अधिक किया है। साखियों के अंतर्गत सार, हरिपद, चौपाई, रोही, सरसी, गीत, मुक्तामणि, श्याम-उल्लास या छप्पय छंद भी आ गए हैं। भाषा की दृष्टि से इसे जनता की भाषा कहा जाएगा। परिनिष्ठित ब्रजी के अलावा इनमें अवधी, भोजपुरी, राजस्थानी, पंजाबी इत्यादि के भी शब्द मिलते हैं।

12.3 प्रेममार्गी शाखा की विशेषताएँ

प्रेममार्गियों के आधारभूत सिद्धान्त हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप से सूफी साधकों से ग्रहण किए हैं। उनका साधना

का आरंभ भी प्रेम से होता है और उसकी परिणति भी प्रेम में होती है । प्रेममार्गी शब्द का प्रयोग सूफी साधकों अथवा कवियों ने नहीं किया है । हिन्दी साहित्य के इतिहास लिखनेवालों ने इस शब्द का प्रयोग सूफी साधकों और कवियों के लिए किया है । सूफी प्रेममार्गी के प्रेमाख्यानों के आधार पर प्रेममार्गी शाखा की सामान्य विशेषताओं को सारणीबद्ध किया जा सकता है ।

विशेषताएँ

1. सूफी प्रेमाख्यानों की पहली प्रवृत्ति है काव्य में प्रबंधात्मकता पर जोर । इनके प्रेमाख्यान काव्य कोटि की दृष्टि से प्रबंध की कोटि में आते हैं । इनका उद्देश्य मात्र प्रेम कहानी न होकर तत्त्व निरूपण भी है । इनकी प्रेमिकाएँ ज्योति पुंज के रूप में चित्रित हैं । ये प्रेम-कथाएँ प्राय: एक ही ढाँचे में ढली हुई हैं । यहाँ यांत्रिकता अधिक है मौलिकता कम । घटनाएँ कहीं-कहीं अस्वाभाविक हो गई हैं । इनमें काव्योचित प्रवाह और गति का भी अभाव-सा है । प्रबंध रूढ़ियों का वर्णन समान ही है । सर्वत्र एक ही प्रकार के तूफान वर्नात, मकान, वाटिका इत्यादि के वर्णन मिलते हैं । प्रारंभ में निर्गुण ईश्वर का वर्णन हजरत मुहम्मद और उनके सहयोगियों की प्रशंसा, शाहे वक्त का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन, गुरु परंपरा का निर्देश इत्यादि सर्वत्र मिलते हैं । भारतीय कथानक रूढ़ियों-चित्र दर्शन, स्वप्न दर्शन गुण श्रवण आदि से आसक्ति, पशु-पक्षियों आदि के संवाद से भावी घटना की सूचना मिलना आदि भी वर्णित है । मंदिर चित्रशाला, खंडहर, वन प्रांतर आदि में प्रेमी-प्रेमिकाओं का मिलना वगैरह भी सबमें समान है । इस प्रबंध कल्पना में फारसी साहित्य का प्रभाव तो है, पर यह प्रभाव अंधानुकरण की शैली में नहीं अपनाया गया है । सर्गों का विभाजन मसनवी के समान ही है । कहीं-कहीं फारसी के बहरों का प्रयोग हुआ है ।

2. इनकी दूसरी मुख्य प्रवृत्ति है भावों की व्यंजना का आधिक्य । इनका मुख्य प्रतिपाद्य है- प्रेम । यहाँ संयोग से अधिक वियोग को ही महत्ता है । वियोग-वर्णन के निमित्त 'बारहमासे' का उपयोग किया गया है । सो प्रकृति सर्वत्र भारतीय ही ठहरती है । कहीं-कहीं उहात्मक अंश भी है । उहात्मक वर्णन वीभत्स और अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं । संयोग वर्णन में यत्र-तत्र अश्लीलता का भी समावेश हो गया है । मिलन परक आनंदानुभूति का सबल और नख की परंपरा अपनाई गई है । जिन कवियों ने जीवन को खुली आँखों से देखा है । उन्होंने उत्साह, ईर्ष्या, द्वेष, वैर, कपट इत्यादि का सुन्दर चित्रण किया है । सौन्दर्य की व्याख्या करते-करते कहीं-कहीं से ये साम्प्रदायिक भी बन गए हैं । षड्ऋतु वर्णन की परंपरा पूर्णत: भारतीय रूप में उपलब्ध है ।

3. इन प्रेमाख्यानों की तीसरी विशेषता यह है कि इनका चरित्र-चित्रण अपने ढंग से होता है । इनमें नायक नायिका के जीवन के उतने ही अंशों को चित्रित किया गया है जितने प्रेम तत्त्व के लिए अनिवार्य है । जीवन के वैविध्य का यहाँ अभाव है । चरित्रों का विकास नाक की सीध में, सरल रूप में हुआ है । गत्यवरोध के लिए यहाँ परंपरित रीति का आलंबन है । इनकी नायिकाएँ ह्रासोन्मुख संस्कृत साहित्य की नायिकाओं के समकक्ष हैं । यहाँ एक ही साँचा है । घात-प्रतिघात के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है । कहीं-कहीं तो ये पूर्णत: काल्पनिक प्रतीत होती हैं । नायकों का वातावरण सामंतीय ही मानना चाहिए । इनका अथ और इनकी इति प्रेम ही है । चरित्र की दृष्टि से ये प्रेमाख्यानक काव्य हैं ।

4. प्रेममार्गी शाखा की चौथी विशेषता है लोक पक्ष और हिन्दू संस्कृति की अभिव्यक्ति । इनकी परिधि संतों से बड़ी है । संतों के प्रेम वैयक्तिक सीमा में आबद्ध रहा है । उनकी अपेक्षा इनका प्रेम समष्टिगत रहा है । इसी से उन आख्यानों में लोक जीवन के चित्र अधिक मिलते हैं । इनमें अंधविश्वास, मनौती, जादू-टोना, मंत्र-तंत्र डाइनों की करतूत,

विभिन्न लोकोत्सव, तीर्थ व्यवहार-व्रत इत्यादि के भी चित्र मिलते हैं ।

5. इन प्रेमाख्यानों की कथावस्तु भारतीय है ।

6. सभी प्रेमाख्यान राजकुल से संबंध रखते हैं और राजकुमारों एवं राजकुमारियों की प्रेम कहानियों को उपस्थित करते हैं ।

7. इनमें वर्णित प्रेम भारतीय परंपरा का सामाजिक प्रेम न होकर लोक-बाह्य एवं एकांतिक है, किन्तु फिर भी इसमें सामाजिकता का कहीं विरोध नहीं है । नायक-नायिका का प्रेम विवाह में परिणत भी होता है । फिर नायक और नायिका दोनों एक-दूसरे के लिए व्याकुल रहते हैं । इस प्रकार इनमें भारतीय एवं मसनवी पद्धति का मेल-सा है ।

8. इन प्रेम कथानकों में प्रायः गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन अथवा स्वप्न से प्रेमारंभ होता है । दूसरे शब्दों में पूर्वानुराग की परिस्थिति में ही प्रेमावस्था आ जाती है । नायक अथवा नायिका मूर्च्छित हो जाती है । इस प्रकार इनका प्रारंभ मनोविज्ञान की दृष्टि से स्वाभाविक नहीं होता ।

9. इन प्रेमाख्यानों में सौंदर्य मूल प्रेरणा है और शृंगार प्रमुख रस । इनमें नायक और नायिका असाधारण रूप से सुंदर है । कुरूपा की रूप-साधना की खोज इनमें करना वृथा है । इनमें शृंगार के उभयपक्ष संयोग और वियोग का वर्णन है, परंतु वियोग-वर्णन जितना मार्मिक हुआ है संयोग उतना नहीं ।

10. ये प्रेमाख्यान प्रेम-कथाओं के ब्याज से आध्यात्मिक रूपक ही उपस्थित करते हैं । इनके नायक साधक जीवात्मा के प्रतीक हैं और नायिका ब्रह्म के । जायसी के 'पद्मावत' में प्रतीक पद्धति का निर्वाह हुआ है । यह प्रतीक 'गुरु सुआ जेहि पंथ देखाबा' वाले पद से स्पष्ट हो जाता है । वस्तुतः यह प्रतीकात्मक पद्धति इन प्रेमाख्यानों की सामान्य प्रवृत्ति है ।

11. इनमें शृंगार रस की व्याप्ति है । इनकी कथावस्तु शृंगारपरक उद्देश्य, आध्यात्मिक प्रेम व्यंजना और शिल्प लोककथा वाला है । इनमें भारतीय लोककथाओं की रूढ़ियों-समानीपन, साहसिकता, आश्चर्य तत्त्व का प्रयोग हुआ है ।

12. प्रेम में पूर्व राग में तीव्रता के लिए बाधाओं का वर्णन भी सामान्य प्रवृत्ति है । प्रधान पात्रों के अनुभवों के चित्रण की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है । वीर रस के उल्लेखनीय प्रसंग 'पद्मावत' और चंद्रायन में मिलते हैं ।

13. इन प्रेमाख्यानों में कथाक्रम में शैतान का आना स्वाभाविक है । वस्तुतः शैतान की स्थिति 'माया' के समानार्थक ही है । यहाँ भी शैतान साधक को संकल्पित मार्ग से हटाने में उपक्रम करता है ।

14. इन प्रेमाख्यानों की एक प्रमुख प्रवृत्ति है मंडनात्मक की धार्मिक एकता जिनका श्रीगणेश तो पहले ही हो चुका था । इसके पूर्व संतकवियों ने भी इसमें योगदान किया था, पर खण्डनात्मक प्रवृत्ति के आधिक्य के कारण उनकी बातें समाज में प्रतिकूल ही बनी रहीं । इन सूफियों को इस कार्य में अधिक सफलता मिली । इसका कारण संभवतः यह था कि इनकी प्रवृत्ति अपेक्षतया वैज्ञानिक अधिक थी ।

15. नारी चित्रण भी इन सूफी प्रेमाख्यानों की एक विशिष्ट प्रवृत्ति रही है । इन काव्यों में नारी को ज्योति पुंज के रूप में, परात्मशक्ति के रूप में चित्रित किया गया है । नारी वह नूर है जिसके बिना समस्त काव्य ही सूना है । इनकी नारियाँ सामान्यतया परकीया ही हैं; पर स्वकीया के भी चित्र यत्र-तत्र मिलते हैं । इनमें कामुकता का जो चित्रांकन हुआ है, उससे इस बात पर विश्वास किए बिना नहीं रहा जाता कि ये पात्र ईश्वर के प्रतिरूप नहीं हैं ।

16. भाषा की दृष्टि से इन प्रेमाख्यानों में सर्वत्र अवधी का प्रयोग हुआ है । उसमान और नासीर में भोजपुरी की स्पष्ट छाप दृष्टिगत होती है । नूर मुहम्मद के ब्रजी के प्रयोग मिलते हैं । यों अरबी और फारसी के शब्द भी मिलते हैं । जायसी के पद्मावत में अवधी का ठेठ रूप है । इनमें लोकविश्रुत शब्दों की भरमार है क्योंकि यह बोलचाल का रूप है ।

17. छंद की दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि इन प्रेमाख्यानों के मूल छंद दोहा और चौपाई हैं । धत्ता देने के लिए दोहे और अरिल्ल का प्रयोग हुआ है । सोरठे, सवैये, प्लवंगम और बरवै इत्यादि छंद भी यत्र-तत्र मिलते हैं ।

18. इन प्रेमाख्यानों की परंपरा ने आख्यायिका का साहित्य के विकास में अपूर्व योगदान किया है ।

12.4 कृष्ण-भक्ति शाखा की विशेषताएँ

कृष्णभक्ति साहित्य में प्रेम का महत्त्व अत्यधिक है । प्रेम ही भक्ति का मूलाधार है । कृष्णभक्ति में दैन्य का स्थान अत्यन्त है । स्वाभावेदानुसार प्रेम, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य में ही व्याप्त है । प्रेम का चरम रूप है माधुर्य भक्ति । कृष्णभक्तों ने कर्म और कर्मकांडों और ब्रह्मचारों की उपेक्षा कर प्रेम पर ही अधिक जोर दिया है । वस्तुत: इस शाखा के कवियों का उद्देश्य था "रस, आनंद और प्रेम की मूर्ति कृष्ण और राधाकृष्ण की लीला का गान ।" संपूर्ण कृष्णभक्ति शाखा के कवियों द्वारा विरचित काव्यों के पर्यालोचन से कई प्रकार की सामान्य प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं । इन सभी प्रवृत्तियों को यदि रेखांकित करना चाहें तो उन्हें हम इस प्रकार रेखांकित कर सकते हैं :

1. **लीला वर्णन** - कृष्णभक्ति काव्य में कृष्ण की लीलाओं का गायन मुख्य विषय है । सूरदास के प्रण्य लीला वर्णन में निश्चित विवेक, सूक्ष्म अध्यात्म, मानसिक तीवरागत्व, और स्वस्थ संयम है । कृष्ण काव्य के परवर्ती कवियों में धीरे-धीरे इसका अभाव होने लगा । उनमें स्थूलता और लौकिकता क्रमश: आने लगी । इसका परिणाम यह हुआ कि कृष्ण काव्य में चतुर्दिक प्रसारित उज्ज्वल आभा शनै: शनै: कालिमा में परिवर्तित होने लगी । धीरे-धीरे आध्यात्मिकता ने शृंगारिकता का जामा धारण कर लिया ।

2. **मौलिक उद्भावना** - कृष्णभक्ति साहित्य का विस्तार संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में भी है । इन सबका उपजीव्य श्रीमद्भगवत ही रहा है । हिंदी के इन कवियों ने उन्हीं को मौलिक ढंग से वर्णित करने की भरसक चेष्टा की है । जाहिर है कि इसी कारण वे पिष्टपेषण जैसे नहीं प्रतीत होते । जहाँ तक सूरदास की बात है तो वे सदा से ही अपनी मौलिक उद्भावना के लिए प्रसिद्ध रहे हैं । आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने स्पष्ट लिखा है - "सूर की बड़ी भारी विशेषता है नवीन प्रसंगों की उद्भावना । प्रसंगोद्भावना करनेवाली ऐसी प्रतिभा तुलसी में नहीं है ।" हिंदी के इन कवियों ने जयदेव तथा विद्यापति का आधार ग्रहण करते हुए यथेष्ट कल्पना से भी काम लिया है । सच पूछा जाए तो ये मौलिक उद्भावनाएँ ही कृष्ण भक्ति काव्य के प्राण हैं ।

3. **रस-चित्रण** - कृष्णभक्ति शाखा के सारे काव्य-साहित्य में रस-चित्रण की दृष्टि से एक ही 'रस' है - 'ब्रजरस' या 'भक्ति रस' । इसे 'अंगीरस' कहा जा सकता है । इस रस का स्थायी भाव है भगवत प्रेम । इस रस की काव्यशास्त्रीय व्याख्या 'उज्ज्वल नीलमणि' और 'भक्ति रसामृत सिंधु' में हुई है । शास्त्रीय शब्दावली में इसे वात्सल्य, शांत और शृंगार भी कह सकते हैं । वात्सल्य रस के संदर्भ में तो सूरदास अद्वितीय हैं । सख्य भाव के निरूपण में भी उनका कोई जोड़ नहीं है । संपूर्ण कृष्णभक्ति शाखा के काव्य में यदि आप 'निर्वेद' को ढूँढ़ना चाहें

तो संभवत: आपके हाथ कुछ नहीं लगेगा । हाँ, वीर, अद्‌भुत आदि अन्य रसों की योजना निश्चय ही प्रसंगवशात आपको मिल जाएगी ।

4. **भक्ति भावना** - जाहिर है संपूर्ण कृष्णभक्ति शाखा के काव्य में मूलत: कृष्ण भक्ति ही है । 'भगवत् रति' ही स्वभावानुसार वात्सल्य, सख्य, कांता इत्यादि रसों में परिणत हुई है । यहाँ वैद्यी भक्ति से भिन्न प्रेमलक्षण भक्ति ही मिलती है । रागानुगाभक्ति कांता भाव में निहित है । निम्बार्क मतवादियों ने स्वकीया और चैतन्य मतवादियों ने परकीया भाव पर अधिक जोर दिया है । राधावल्लभी मत ने परकीया भाव को अस्वीकृत किया है । कहीं-कहीं दास्यभाव तथा नवधाभक्ति के अन्य अंगों का भी पोषण हुआ लगता है ।

5. **पात्र और जीवन-चित्रण** - जैसे रामकाव्य में राम का सम्पूर्ण जीवन चित्रित है यहाँ वैसी बात नहीं है । इस संदर्भ में सूर के काव्य पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने जो दृष्टि-निक्षेप किया है उससे हमें बहुत कुछ का पता चलता है । वह कहते हैं - ''यद्यपि तुलसी के समान सूरदास का काव्य-क्षेत्र उतना व्यापक नहीं कि उसमें जीवन की भिन्न दशाओं का समावेश हो पर जिस परिमित पुण्यभूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया, उसका कोई कोना अछूता न छूटा । शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में इनकी दृष्टि जहाँ तक पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं ।'' इन कवियों ने कृष्ण के बाल गोपाल और छलिया रूप को ही काव्य में चित्रित किया है । कृष्ण के बाद दूसरा चित्र है राधा का । जिस प्रकार उपदेशक, नीतिकुशल और योद्धा कृष्ण के चित्रों का यहाँ अभाव है, उसी प्रकार राधा के वैयक्तिक और प्रेमपक्ष के चित्र मात्र ही यहाँ उभरे सामाजिक और लोकपक्षीय चित्र का यहाँ नितांत अभाव-सा है । सूर की राधा अपेक्षाकृत कोमल, भोली और स्वकीया है । वह कृष्ण के साथ विविध लीलाएँ तो करती है पर वह आज ही युवती-सी 'रोमांटिक' नायिका की तरह नहीं । कृष्ण और राधा के साथ इनके माता-पिता, सखी-सखा तथा निकट के लोगों के ही चित्र मिलते हैं । कृष्ण मित्रों में उद्धव का चित्र अधिक मार्मिक बन पड़ा है । उद्धव के माध्यम से बुद्धि और तर्क पर भाव की मस्तिष्क पर हृदय की, ज्ञान पर भक्ति की ओर निर्गुण पर सगुण की विजय दिखायी गई है ।

6. **पात्रों की प्रतीकात्मकता** - लगभग संपूर्ण कृष्णकाव्य की विशेषता है कवियों द्वारा पात्र के चित्रण में प्रतीकात्मकता का सहारा लेना । राधा मथुरा भक्ति की मूर्ति सरीखी है । वह कृष्ण से अभिन्न उन्हीं की आह्लादिनी है शक्ति है । गोपियाँ भी कृष्ण से अभिन्न नहीं है । श्री कृष्ण पूर्ण ब्रह्म है, गोपियाँ जीवात्मा । वृन्दावन लीलाधाम है । चीरहरण माया के आवरण के विनाश की मानिंद है । इस प्रकार समस्त लीलाएँ ही नहीं, समस्त कृष्ण काव्य ही प्रतीकात्मक है ।

7. **सगुणत्व की मंडनात्मकता** - उद्धव के दूतकर्म द्वारा इन कवियों ने सदा ही ब्रह्म के सगुण रूप की पुष्टि का प्रयत्न किया है । यहाँ निर्गुण का खंडन और मंडन सर्वत्र एक समान पद्धति पर मिलता है । भ्रमरगीत-प्रसंग की अवतारण के पीछे यही भावना काम करती है ।

8. **रीति की प्रवृत्ति** - कृष्ण भक्ति काव्य में रीतिपरकता की भी प्रवृत्ति प्रमुख रूप से रही है । सूर के 'साहित्य लहरी' और 'रस मंजरी' जैसे ग्रंथों के प्रणयन इसी समय होते हैं । इन ग्रंथों में रीति की प्रवृत्ति की नींव पड़ जाती है । साथ ही, कृष्ण भक्ति की मधुरा रति से भी इसे प्रोत्साहन मिलता है, जिससे आगे शृंगारकाल की अट्टालिका हिंदी में खड़ी होती है ।

9. **प्रकृति चित्रण** - संपूर्ण कृष्ण काव्य भावात्मक होने के कारण उद्दीपक प्रकृति के चित्रणों से भरा

पड़ा है । प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण नहीं के बराबर ही हुआ है । चित्रांकन-कौशल कवियों में अधिक रहा अवश्य है । डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा के अनुसार ''दृश्यमान जगत का कोई भी सौंदर्य उनकी आँखों से छूट न सका । पृथ्वी, अंतरिक्ष, आकाश, जलाशय, वन-प्रांतर, यमुना-कूल और कुंज भवन की संपूर्ण शोभा इन कवियों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में नि:शेष कर दी है । इतना होते हुए भी प्रकृति के संवेदनात्मक चित्रों का इनमें प्राय: अभाव ही है । ये अनुपात की दृष्टि से कम ही हैं ।

10. **लोक दृष्टि** - कृष्ण भक्ति काव्य लीलावादी है । लीला भी लीला के लिए है । इसका लोकमंगल से कोई सरोकार नहीं है; फिर भी उस काल की स्थिति के वर्णन यत्र-तत्र मिल जाते हैं । तत्कालीन जीवन की उद्देश्यहीनता ऐन्द्रिकता आदि की आलोचना भी यदा-कदा मिल जाती है । कलियुग वर्णन में सामाजिक चित्र कुछ अधिक उभर कर सामने आए हैं । यह काव्य वैयक्तिक होकर भी लोकमंगल की भावना से पूर्णत: रहित नहीं है । इतना तो कहा ही जा सकता है कि जिस युग में मुस्लिम दमन से आक्रांत लोग हताश होकर जीवन से निराश हो रहे थे, वैसे समय में कृष्ण काव्य ने जीवन में रससिक्तता प्रदान कर सर्वत्र सरसता उत्पन्न करने की भरसक कोशिश की है ।

11. **काव्य रूप** - काव्य रूप की दृष्टि से संपूर्ण कृष्ण काव्य प्राय: मुक्तक में है । मुक्तक के संबंध में आचार्य शुक्ल की मान्यता है कि यह एक तरह का गुलदस्ता है । तात्पर्य यह है कि इसमें सौंदर्य का कसाव अधिक होता है । मुक्तक के क्षेत्र में कृष्ण भक्त कवियों ने विलक्षण 'कमाल' दिखाया है । कृष्ण की संपूर्ण कथा, संपूर्ण रूप से ब्रजविलास 'सागर' में ही संभव हो सकता है । इस काव्य में थोड़ा बहुत गद्य भी प्रयुक्त हुआ है । चौरासी वैष्णव की वार्ता दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता आदि इसके प्रमाण हैं । इनके अलावा अनन्य अली (स्वप्न प्रसंग), ध्रुवदास (सिद्धान्त विचार), प्रियदास (राधा नेह) इत्यादि की रचनाओं में गद्य मिलता है ।

12. **शैली** - शैली की दृष्टि से संपूर्ण कृष्ण काव्य गीतात्मक है । इनमें गीति शैली के सभी अपेक्षित तत्त्व भावात्मकता, संगीतात्मकता, वैयक्तिकता, संक्षिप्तता, भाषिक सुनम्यता आदि तत्त्व प्रचुरता से प्राप्त होते हैं । गीतिशैली के सुंदर निर्वाह के कारण ही आचार्य शुक्ल को कहना पड़ा था कि ''सूरसागर किसी चली आती हुई गीति काव्य परंपरा का चाहे वह मौखिक रहा हो, पूर्ण विकास प्रतीत होता है ।''

13. **छंद** - भावात्मक काव्य होने के कारण इनमें ज्यादातर गेय पद ही प्रयुक्त हुए हैं । ऐसे काव्यों में गेय छंद अपेक्षित भी होते हैं । कथात्मक प्रसंग में चौपाई दोहा - रोला और रोला-दोहा के मिश्रित रूप भी मिलते हैं । अधिकतर कवित्त, सवैया, छप्पाय, कुंडलिया, गीतिका, हरिगीतिका, अरितल इत्यादि छंद ही व्यवहृत हुए हैं ।

14. **भाषा** - समस्त कृष्ण काव्य की भाषा ब्रजी है । सूरदास और नंददास के हाथों में पड़कर यह ब्रजभाषा सचमुच खिल उठी है । आधुनिक काल में लिखे जानेवाले कृष्ण काव्य खड़ी बोली में है । लेकिन वास्तविक कृष्ण काव्य का जो दौर भक्तिकालीन कृष्ण काव्य धारा में चला, उसकी भाषा अनिवार्यत: ब्रजभाषा ही है । इस काल के कवियों में भाषिक प्रयोग की दृष्टि से सूरदास और नंददास के काव्य अन्यतम हैं । इन दोनों में भी नंददास की भाषा अधिक मंजी हुई और परिष्कृत है । संभवत: नंददास के विषय में इस टिप्पणी कि 'और कवि गढ़िया नंद दास जड़िया' कहने के मूल में उनकी भाषिक उत्तमता भी ध्यान में रही हो ।

कुछ अन्य विशेषताओं में इस काव्य धारा के प्रत्येक कवि का पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त के आलोक में ब्रजभूमि, यमुना, मुरली, गावंश के प्रति अपना भक्तिभाव प्रदर्शित करना भी है । इसके अलावा कृष्ण की बाल, किशोर और युवाकाल की मधुर लीलाएँ भी प्राय: सभी कवि अपने विषय में शामिल करते हैं । कहा जा सकता है कि मानव की

रागात्मकता को परितोष देने में इन कृष्ण भक्त कवियों का योगदान सराहनीय रहा है ।

कृष्ण भक्ति काव्य में मूलत: उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ ही मिलती हैं । वस्तुत: कृष्ण काव्य आनंद और उल्लास का काव्य है । कला की दृष्टि से भी यह काव्य प्राय: अनुपमेय है । आचार्य द्विवेदी के अनुसार ''यह काव्य मनुष्य की रसिकता को उद्‌बुद्ध करता है, उसकी अंतर्निहित लालस को ऊर्ध्वमुखी बनाता है और उसे निरंतर रससिक्त बनाता रहता है ।'' अस्तु कृष्ण के विलक्षण व्यक्ति को अपना आलम्बन बनाने वाला यह संपूर्ण कृष्ण काव्य हिन्दी को अनुपम खजाना है ।

12.5 रामभक्ति शाखा की विशेषताएँ

हिंदी साहित्य के प्रादुर्भाव के पूर्व ही राम कथा शताब्दियों से भारतीय साहित्य में इतनी व्याप्त होती रही थी कि समस्त भारतीय संस्कृति 'राममय' हो चली थी । तभी हिन्दी साहित्य में रामकथा की इस लोकप्रियता के कारण संत कवियों ने भी 'रामनाम' का सहारा लेकर अपनी निर्गुण साधना का प्रचार किया । संत काव्य पर राम-काव्य का यह प्रभाव 'नाम' के प्रयोग तक ही सीमित नहीं रहा । रीतिकाल में तो दरिया साहब ने 'ज्ञानरत्न' में तथा उसके बाद तुलसी साहब ने 'घट रामायण' में रामायणीय कथा को निर्गुणवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में रामानंद ने उत्तर भारत में जनसाधारण की भाषा में रामभक्ति का प्रचार किया था । इसके फलस्वरूप हिन्दी रामकाव्य आधुनिक काल को छोड़कर प्राय: भक्तिभावना से ही ओत-प्रोत है । इस साहित्य की मुख्यत: चार प्रमुख दिशाएँ प्रतीत होती हैं : तुलसीदास का एकाधिपत्य, लोक-संग्रह, दास्य भक्ति का प्राधान्य, कृष्ण का प्रभाव और विविध रचना-शैलियों, छंदों और साहित्यिक भाषाओं का प्रयोग ।

हिन्दी के समस्त रामभक्ति काव्य की प्रमुख विशेषता यह है कि कवियों में 'रामचरित मानस' के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ का ही प्राधान्य है । तुलसी ने मर्यादापुरूषोत्तम राम की गुणगाथा गाते हुए रामानंद द्वारा प्रचारित लोक-संग्रही सगुण दास्य-भक्ति का जो रूप प्रतिपादित किया है उसी को आमजन ने भी और लगभग सारे कवियों ने भी अपना लिया है । यह दास्यभक्ति इतनी लोकप्रिय हुई कि राम की मधुरोपासना प्राय: जूठन मात्र रह गई, किन्तु कृष्ण काव्य के प्रभाव के कारण राम की रास-क्रीड़ा तक का वर्णन 'अग्रदास' के 'अष्टयाम' नामक काव्य में मिलता है । हिन्दी रामकाव्य की एक प्रमुख विशेषता यह है कि बहुत-सी काव्य में राम और सीता साधारण नायक-नायिका बनकर शृंगारपूर्ण चेष्टाएँ करते दिखाई देते हैं ।

हिन्दी राम काव्य की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कृष्ण काव्य की अपेक्षा रचना शैलियों, छंदों और साहित्यिक भाषाओं की अधिक विविधता पाई जाती है । यहाँ प्रबंध काव्य का प्राधान्य रहते हुए भी मुक्तक काव्य नगण्य नहीं है । इन रामभक्त कवियों ने सभी प्रचलित छंदों में मध्यकाल की प्रमुख भाषाओं में राम-चरित्र का वर्णन किया है । संपूर्ण रामकाव्य में राम को लोकरक्षक के रूप में देखने की ही प्रवृत्ति कवियों में है । इन सभी रामभक्त कवियों ने ब्रह्म को सगुण तथा राम से अभिन्न माना है । मायाश्रित राम ही निर्गुण भी हैं और सगुण भी ।

हिन्दी रामकाव्य की प्रवृत्तिगत विशेषताओं की चर्चा के समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आधुनिक काल को छोड़कर प्राय: समस्त रामकाव्य भक्ति भावना से ओत-प्रोत है, किन्तु जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है, सामान्य रूप से राम का पुरूषोत्तम रूप, लोक-संग्रह की भावना, दास्यभक्ति, संपूर्ण रामकाव्य पर तुलसी का प्राधान्य, समन्वयतमकता, कृष्ण काव्य का प्रभाव, रचनाशैली का वैविध्य, छंदों का वैविध्य और साहित्यिक भाषा का उपयोग ।

सभी रामभक्त कवियों के इष्टदेव विष्णु के अवतार होकर भी पूर्ण ब्रह और विधि हरि सम्भु नचावन हारे हैं। धर्मोद्धार और पापशमन हेतु ये प्रत्येक युग में अवतरित होते हैं। ये शील, शक्ति और सौंदर्य की प्रतिमूर्ति हैं। ये आदर्श के प्रति व्यापक और मर्यादापुरूषोत्तम हैं।

लोक-संग्रह की भावना का जितना उदात्त रूप काव्य में चित्रित हुआ है उतना अन्यत्र नहीं। मध्यकालीन निवृत्तिमूलक हिन्दू जीवन को प्रवृत्तिमूलक इसी ने बनाया। वास्तव में पारिवारिक कवि के रूप में लोक-कल्याण की भावना से काव्य लिखने की जो परंपरा तुलसी ने चलाई, आगे के लगभग सभी कवियों ने उसे अपनाया। अपनी लोक-संग्रही भावना से समाज के इस चित्र को तुलसी कैसे व्यक्त करते हैं, देखें -

"खेती न किसान को, भिखारी को भीख नहिं,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी ।
जीविकाविहीन लोग सीधमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों कहाँ जाई का करी ?"

इतना ही नहीं -

"किसबी किसान कुल बनिक भिखारी भाट,
चाकर चपल नट चोर-चार चेटकी ।
पेट की पढ़त गुन गढ़त चढ़त गिरी,
अटत गहन बन अहन अखेट की ।।
ऊँचे-नीचे करम-धरम अधरम करि,
पेट ही को पचत बेचत बेटा बेट की ।
तुलसी बुझाई एक राम घनस्याम ही ते
आगि बडवागी तें बड़ी है आग पेट की ।।"

यह वर्तमान समाज का भी यथार्थ चित्रण है। यह है लोकचेतना। वास्तव में रामकाव्य ने लोक भावना और देश की ऐहिकता के उत्थान में बड़ा योगदान किया।

दास्य भक्ति, रामभक्ति काव्य की खास विशेषता है। तुलसी के 'सेवक सेत्य भाव बिनु, भव न तरिये उरगारि' के उपजीव्य राम शीले, शक्ति और सौंदर्य के आकर हैं। अन्य देवताओं के प्रति भी इस काव्य में समान भाना है। समाज के प्रत्येक पूज्य और श्रद्धेय तत्त्व के प्रति पूज्य भावना ही इस भक्ति का आदर्श है।

समस्त रामकाव्य को देखें तो लगता है कि इस काव्यधारा में तुलसी का एकाधिकार सा है। वस्तुतः रामभक्तिकाव्य में समन्वय की भी अपूर्व भावना है। तुलसी अपनी समन्वयात्मक दृष्टि के कारण ही लोकनायक के रूप में मान्य हुए। ज्ञान का भक्ति से निर्गुण का सगुण से, शिव का राम से, प्रबंध का मुक्तक से, ब्राह्मण का शूद्र से, अवधी का ब्रजी से, लोकमत का साधुमत से समन्वय कर संपूर्ण रामकाव्य ने अपनी उदारता और विस्तृत परिधि का परिचय दिया। भारतीयों के मन में राम के अमिट रूप का यह भी कारण है।

रामभक्ति काव्य की अन्यतम विशेषता है कि इसमें रचना-शैलियों का वैविध्य पाया जाता है। कृष्ण काव्य में इतनी विविध काव्य-शैलियाँ प्रयुक्त नहीं हुई हैं। रामकाव्य प्रायः प्रबंध काव्य हैं, परंतु उनमें मुक्तकों का भी कम उपयोग नहीं हुआ है। काव्य-शैलियों की ही तरह छंदों का वैविध्य भी यहाँ उपलब्ध है। दोहा और चौपाई की

प्रधानता होते हुए भी कवित्त, सवैया, सोहर, बरवै, कुंडलिया, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय त्रिभंगी और विनय के पद इत्यादि अनेक तरह के छंद प्रयुक्त हुए हैं ।

भाषा के विचार से भी रामकाव्य में अनेक साहित्यिक भाषाओं का उपयोग किया गया है । रामचरित मानस में अवधी का विशुद्ध साहित्यिक रूप प्रयुक्त है, ठेठ रूप नहीं । इन कवियों ने अवधी का ब्रजी से मेलकर अद्‌भुत भाषाधिकार का परिचय दिया है । तुलसी की गीतावली को छोड़ अन्य रचनाओं में अवधी का ही प्रयोग है । केशव की 'रामचंद्रिका' की भाषा ब्रजी है । तुलसी तथा अन्य अनेक कवियों में भोजपुरी तक के शब्दों का प्रयोग मिलता है । आधुनिक काल में रचित राम-काव्य की भाषा शुद्ध खड़ी बोली हिंदी है । उदाहरणस्वरूप मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' और निराला की 'राम की शक्ति पूजा' को लिया जा सकता है । तात्पर्य यह है कि रचना शैली, छंद-विधान तथा भाषा-प्रयोग के संदर्भ में संपूर्ण रामकाव्य के कवियों में वैविध्य की प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है ।

अस्तु स्थूल रूप से सुविधा के लिए प्रवृत्तियों को यों खटिया सकते हैं :

(1) मर्यादा पुरूषोत्तम, लोकरक्षक और लोकमंगल विधायक के रूप में श्री राम की प्रतिष्ठापना करने की प्रवृत्ति

(2) राम को शक्ति, शील और सौंदर्य के समन्वित और सजीव आकार में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति,

(3) राम को आराध्य मानते हुए भी वैष्णव, शैव, शाक्त और स्मार्त सभी मतों को सम्मन देते हुए समन्वय के मार्ग को सम्मन देते हुए, समन्वय के मार्ग को अपनाने की प्रवृत्ति;

(4) भक्ति के साथ इन भक्त कवियों ने कर्म एवं ज्ञान की प्रतिष्ठापना भी की । इनके राम तो सतत् कर्म के ही प्रतीक है; अतः कर्मवाद का समर्थन करने की भी इनमें प्रवृत्ति है;

(5) काव्य रूप की दृष्टि से इनकी रुचि लगभग प्रबंधकाव्य की ओर ही है;

(6) भावपक्ष में इन कवियों ने शृंगार एवं भक्ति रसों के साथ करूण रौद्र, वीर आदि अन्य रसों का तन्मयकारी चित्रण किया है;

(7) विविध भाषा-प्रकारों के साथ इन कवियों ने सभी प्रचलित छंद-शैलियों को अपनाने की प्रवृत्ति दिखाई । छंदों के वैविध्य के साथ इनमें अलंकार-वैविध्य और सौष्ठव भी सराहनीय रूप में परिलक्षित होता है ।

(8) इस धारा के कवियों ने एक विशिष्ट आदर्श और उद्देश्य को लेकर काव्य रचना की है - असद् पर सद् के विजय का घोष इनका मुख्य उद्देश्य है ।

12.6 अभ्यास के प्रश्न

1. ज्ञानमार्गी शाखा की विशेषताएँ क्या हैं ? विवेचन कीजिए ।
2. प्रेममार्गी शाखा की विशेषताओं का विवेचन कीजिए ।
3. कृष्णभक्ति शाखा की विशेषताओं का विवेचन कीजिए ।
4. रामभक्ति शाखा की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ।

मलिक मुहम्मद जायसी

पाठ संरचना

13.0 उद्देश्य
13.1 परिचय
13.2 अंतर्वस्तु
  13.2.1 काल और परिस्थिति
  13.2.2 प्रेमगाथा की परंपरा
  13.2.3 पद्मावत की कथा
  13.2.4 ऐतिहासिक आधार
  13.2.5 पद्मावत की प्रेम-पद्धति
  13.2.6 वियोगपक्ष
  13.2.7 जायसी का रहस्यवाद
13.3 निबंध की विशेषता
13.4 अभ्यास के प्रश्न

13.0 उद्देश्य

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने तीन कवियों को आदर्श माना है । उनमें से एक नाम मलिक मुहम्मद जायसी का भी है । उनकी प्रसिद्ध रचना 'पद्मावत' पर उन्होंने विस्तार से लिखा है । शुक्ल जी ने जायसी और उनके रचना संसार की जो विशेषता बताई है, उससे पाठक को परिचित कराना ही प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य है ।

13.1 परिचय

भक्तिकाल में जो भक्तिधाराएँ चल रही हैं; उनमें तीन शाखाएँ प्रमुख हैं - निर्गुणधारा प्रेममार्गी शाखा, सगुणधारा की कृष्णभक्ति शाखा और सगुणधारा की रामभक्ति शाखा । इन शाखाओं के प्रतिनिधि कवि क्रमशः मलिक मोहम्मद जायसी, सूरदास और तुलसीदास हैं । आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इन तीनों महाकवियों की ग्रंथावली तैयार की और विस्तृत निबंध एवं आलोचनात्मक निबंध कहा है, लेकिन विषय-वस्तु के विश्लेषण और कलेवर को देखते हुए इन्हें समालोचनात्मक प्रबंध कहना उचित होगा । त्रिवेणी नामक पुस्तक में इन्हीं तीनों प्रबंधों को संक्षिप्त कर संकलित किया गया है । इस पुस्तक का प्रथम समालोचनात्मक प्रबंध 'मलिक मोहम्मद जायसी' है । इसमें 'पद्मावत' नामक महाकाव्य की समीक्षा के बहाने जायसी की रचनात्मक प्रतिभा के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाला गया है ।

13.2 अंतर्वस्तु

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'त्रिवेणी' में जायसी, सूर और तुलसी संबंधी तीन प्रबंधों के विशिष्ट अंगों का संग्रह है । जायसी संबंधी प्रबंध से काल और परिस्थिति के विषय का प्रारंभिक अंश, परंपरा और संप्रदाय के विषय का 'प्रेम गाथा की परंपरा' का अंश, कथावस्तु के विषय के पद्मावत की कथा, 'ऐतिहासिक आधार' और 'पद्मावत का प्रेम-पद्धति' के अंश, भावुकता विषय का 'वियोग पक्ष का अंश' और आदर्श भावना के विषय का 'जायसी का रहस्यवाद' अंग उद्धत है । इन्हीं उपशीर्षकों के अंतर्गत जायसी संबंधी शुक्ल जी के विचार इस प्रकार हैं -

13.2.1 काल और परिस्थिति

कबीर से जायसी तक आते-आते परिस्थितियाँ बदल चुकी थीं । हिन्दू और मुसलमान अपने कट्टरपन को भूलकर एक-दूसरे के धर्म को उदारता के साथ देखने लग गए थे । 'राम और रहीम' को लेकर लड़ने की आवश्यकता अब नहीं रह गई थी । हिन्दुओं और मुसलमानों में अनेक स्तर पर एकता स्थापित हो रही थी । उनके घरों में एक-दूसरे के धर्म से संबंधित किस्से कहानियाँ आदर के साथ कही और सुनी जाती थीं । साधु-संत और फकीर धर्म, जाति और संप्रदाय से ऊपर उठकर भक्ति की सर्वोपरिता का बखान कर रहे थे । ऐसे ही वातावरण में ''कुछ भावुक मुसलमान 'प्रेम की पीर' की कहानियाँ लेकर साहित्य क्षेत्र में उतरे । ये कहानियाँ हिन्दुओं के घरों की थीं । इनकी मधुरता और कोमलता का अनुभव करके इन कवियों ने यह दिखला दिया कि एक ही गुप्त तार मनुष्यमात्र के हृदयों से होता हुआ गया है, जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूप रंग के भेदों की ओर से ध्यान हटा एकत्व का अनुभव करने लगता है ।''

राजनीतिक धार्मिक कट्टरपन और अत्याचार के कारण हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियाँ आरंभ में एक-दूसरे से खिंची सी रहीं । मुसलमानी राजत्वकाल में अमीर खुसरो ने हिन्दू जनता के प्रेम और विनोद में योग देकर भावों के परस्पर आदान-प्रदान का सूत्रपात किया । आगे चलकर कबीर ने भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिलाकर मुसलमानों और हिन्दुओं की कट्टरता को फटकारा । परंतु मनुष्य के बीच जो रागात्मक संबंध है उसकी अभिव्यक्ति इन लोगों के द्वारा नहीं हुई । यह काम कुतुबन जायसी आदि कवियों के द्वारा हुआ । इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया । अपनी कहानियों द्वारा इन्होंने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखलाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्यमात्र के हृदय पर एक-सा प्रभाव दिखाई पड़ता है । हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय पर एक-सा प्रभाव दिखाई पड़ता है । हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटानेवालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा ।

13.2.2 प्रेमगाथा की परंपरा

बंगाल के शासक हुसेनशाह ने 'सत्यवीर' की कथा चलाई थी । उनके अनुरोध से मियाँ कुतुबन एक ऐसी कहानी लेकर जनता के सामने आए, जिसके द्वारा उन्होंने मुसलमान होते हुए भी अपने मनुष्य होने का परिचय दिया । इसी मनुष्यत्व को ऊपर करने से हिंदूपन, मुसलमान, ईसाईपन आदि के उस स्वरूप का प्रतिरोध होता है, जो विरोध की ओर ले जाता है । कुतुबन चिश्तीवंश के शेख बुरहान के शिष्य थे । उन्होंने 'मृगावती' नाम का काव्य सन् 909 हिजरी में लिखा । इसमें चंद्रनगर के राजा गणपतिदेव के राजकुमार और कंचननगर के राजा रूपमुरार की कन्या 'मृगावती' के प्रेम की कथा है ।

जायसी ने अपने से पूर्व जिन प्रेम कहानियों का उल्लेख किया है, उनमें मृगावती, मधुमालती, मुग्धावती, प्रेमावती और ऊषा अनिरूद्ध की प्रसिद्ध कथा प्रमुख हैं । 'मधुमालती की कथा' चतुर्भुजदास द्वारा रचित है । इसके निर्माणकाल का पता नहीं है । इसका गद्य अत्यंत भ्रष्ट है । 'मुग्धावती' और 'प्रेमावती' अप्राप्य है । जायसी के बाद भी यह परंपरा चलती रही । गाजीपुर निवासी शेख हुसैन के पुत्र उस्मान ने संवत् 1670 के लगभग चित्रावली लिखी, जिसमें नेपाल के राजा धरनीधर के पुत्र सुजान और रूपनगर के राजा रत्नसेन की कन्या चित्रावली की प्रेमकहानी है। भाषा इसकी अवधी है पर भोजपुरी से प्रभावित है । दूसरी पुस्तक नूर मोहम्मद की 'इन्द्रावती' है, जो संवत 1796 में लिखी गई थी । चित्रावली और इंद्रावती दोनों नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा प्रकाशित है ।

उक्त प्रेमगाथा काव्यों की रचना बिलकुल भारतीय चरिकाव्यों की सर्गबद्ध शैली पर न होकर फारसी की मसनवियों के ढंग पर हुई है, जिनमें कथा सर्गों या अध्यायों में विस्तार के हिसाब से विभक्त नहीं होती; बराबर चलती है, केवल स्थान-स्थान पर घटनाओं या प्रसंगों का उल्लेख शीर्ष के रूप में रहता है । इन कहानियों की भाषा पूरबी हिन्दी है । ये अवधी के एक नियत क्रम के साथ केवल चौपाई दोहे में लिखी गई हैं । जायसी ने सात-सात चौपाइयों के बाद एक दोहे का क्रम रखा है । खास बात यह है कि इस तरह की शैली में प्रेमकहानी मुसलमानों के द्वारा ही लिखी गई है । ऐसा करते हुए इनलोगों ने 'हिन्दू जीवन के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की है । अगर यह काम आगे भी जारी रहता, तो संभव था, हिन्दू और मुसलमान आपसी सौहार्द की कमी महसूस न करते । किसी जाति की जीवन कथाओं को बार-बार सामने लाना उस जाति के प्रेम और सहानुभूति को प्राप्त करने का स्वाभाविक साधन है ।

13.2.3 पद्मावत की कथा

पद्मावती सिंहल-नरेश राजा गंधर्वसेन की पुत्री थी । उसकी माता का नाम चंपावती था । वह दिव्य-सौंदर्य संपन्न थी । जब पद्मावती बारह वर्ष की हुई, राजा ने सात मंजिलों वाले सुंदर भवन में उसके रहने का प्रबंध कर दिया । पद्मावती अपनी सखियों के साथ उस भव्य-भवन में रहने लगी । उसका एक अत्यंत प्रिय पालित तोता भी था । उसका नाम 'हीरामन' था और वह पद्मावती के पास ही रहता था । पद्मावती उससे विशेष स्नेह करती थी । एक दिन जब राजा को यह विदित हुआ कि हीरामन ने पद्मावती के योग्य वर खोजने की प्रतिज्ञा की है, तो वह हीरामन से चिढ़ गया । उसने आदेश दिया कि हीरामन का वध कर दिया जाए; किंतु, पद्मावती की अनुनय-विनय पर हीरामन की प्राण रक्षा हुई । इस घटना के बाद हीरामन अपनी जीवनरक्षा के लिए चिंतित रहने लगा । एक दिन वह पद्मावती से बिना बताए कहीं चला गया । पद्मावती तोते से बिछुड़कर दुखी थी । इधर वन में भटकते हुए तोते को एक बहेलिए ने पकड़कर किसी ब्राह्मण के हाथों बेच दिया । ब्राह्मण से पंडित हीरामन को राजा रत्नसेन ने मोल ले लिया । इस तोते के प्रयास से राजा रत्नसेन और पद्मावती परिणय-सूत्र में बंध गए । राजा रत्नसेन पद्मावती से विवाह करने के उपरांत चित्तौड़ पहुँचा और अपनी पूर्व विवाहिता रानी नागमती तथा नवोढ़ा पद्मावती के साथ सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा ।

'पद्मावती' के उत्तरार्द्ध की कथा का विस्तार राघव-चेतन के चित्तौड़ निष्कासन से पद्मावती-नागमती सती खंड तक है । वेद-विरूद्ध आचरण के परिणामस्वरूप राघव-चेतन नामक ब्राह्मण को राजा रत्नसेन ने चित्तौड़गढ़ से निष्कासित कर दिया । प्रतिशोध की अग्नि में प्रज्ज्वलित ब्राह्मण ने दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन से पद्मावती के सौन्दर्य का बखान किया और वह युद्ध तथा संधि के उपरांत रत्नसेन को छलपूर्वक बंदी बनाकर दिल्ली ले गया । पद्मावती

के जीवन में निराशा छा गई । उसने इस संकट के समय गोरा-बादल से सहायता की याचना की । दोनों वीर पद्मावती की करूणा से पसीज गए और उन्होंने रत्नसेन को मुक्त करवाने की योजना बनाई । वे दोनों धीर वीर सेना सहित छलपूर्वक दिल्ली के दरबार में आ गए और गोरा ने रत्नसेन को मुक्त कराकर बादल के साथ चित्तौड़ भेज दिया और स्वयं बादशाह की सेना के साथ लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ । बादल सुरक्षापूर्वक रत्नसेन को लेकर चित्तौड़गढ़ पहुँच गया ।

जब पद्मावती की रत्नसेन से भेंट हुई तो उसने राजा को बताया कि कुभलनेर के राजा देवपाल ने दूती भेजकर उस पर डोरे डालने का प्रयत्न किया था । यह सुनकर राजा क्रुद्ध हो उठा और उसने देवपाल पर आक्रमण कर दिया । इस युद्ध में देवपाल मारा गया, किंतु राजा रत्नसेन भी घायल हो गया और घातक घावों की ताव न लग सकने के कारण रत्नसेन की भी मृत्यु हो गई । पद्मावती और नागमती राजा के साथ सती हो गई ।

अलाउद्दीन ने चित्तौड़गढ पर अधिकार कर लिया, किन्तु पद्मावती को प्राप्त करने की उसकी सारी आशाएँ धूल में मिल गईं और तब उसे यह अहसास हुआ कि संसार नश्वर है और शारीरिक सौन्दर्य भी क्षणभंगुर है ।

''छार उठाइ लीन्हि एक मूंठी । दीन्हि उड़ाई पिरथमी झूठी ।''

13.2.4 ऐतिहासिक आधार

पद्मावत की संपूर्ण कथा दो भागों में विभक्त है । रत्नसेन की सिंहलद्वीप यात्रा से लेकर चित्तौड़ लौटने तक की कथा उसका पूर्वार्द्ध है तथा राघव के निकाले जाने से लेकर पद्मिनी के सती होने तक की कथा उत्तरार्द्ध । ध्यातव्य है कि पूर्वार्द्ध बिलकुल कल्पित है । उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक आधार पर है । चित्तौड़गढ़ पर अलाउद्दीन की चढ़ाई का उल्लेख 'टॉड राजस्थान' में इस प्रकार मिलता है -

''विक्रम संवत् 1331 में लखनसी चित्तौड के सिंहासन पर बैठा । वह अभी बालक था, इसलिए उसके चाचा भीमसी (भीमसिंह) राज्य करते थे । भीमसी का विवाह चौहान राजा हम्मीशक की कन्या पद्मिनी से हुआ था, जो अत्यंत रूपवती एवं गुणवती थी । उसके रूप की चर्चा सुनकर दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन ने संधि का प्रस्ताव भेजा और पद्मिनी को देखने की आकांक्षा व्यक्त की । इस पर बात तय हुई कि अलाउद्दीन दर्पण में पद्मिनी की छायामात्र देख सकता है । युद्ध बंद हुआ, अलाउद्दीन थोड़े से सिपाहियों के साथ चित्तौड़गढ़ लाया गया । अलाउद्दीन दर्पण में पद्मिनी की छाया देखकर लौटने लगा, तब राजा शिष्टाचारवश और बादशाह पर विश्वास कर महल के बाहर तक छोड़ने गया । अलाउद्दीन के सिपाही वहाँ घात लगाए हुए थे । ज्यों ही राजा बाहर आया, वह पकड़ लिया गया । मुसलमानों ने राजा को पकड़कर चित्तौड़ से थोड़ी दूरी पर एक शिविर में राजा और महल तक खबर भिजवा दी कि जब तक पद्मिनी न भेज दी जाएगी राजा नहीं छूट सकता ।

चित्तौड़ में हाहाकार मच गया । पद्मिनी ने यह सुनकर अपने मायके के गोरा और बादल नामक दो सरदारों के साथ एक युक्ति सोची । उस युक्ति पर अमल करते हुए सात सौ पालकियाँ अलाउद्दीन के खेमे की ओर चलीं । हरेक पालकी को छह-छह कहार उठाए हुए थे और उसमें एक सशस्त्र वीर राजपूत बैठा था । जब ये शाही खेमे के पास पहुँचे तब चारों ओर कनाटें घेर दी गईं । पद्मिनी को अपने पति से भेंट करने के लिए आधे घंटे का समय दिया गया था । योजनानुसार राजपूत चटपट राजा को पालकी में बिठाकर चित्तौड़गढ़ की ओर चल पड़े । शेष पालकियाँ वहीं रहीं । देर होता देखकर अलाउद्दीन घबराया । इतने में पालकियों से राजपूत निकल पड़े । घमासान युद्ध हुआ ।

अलाउद्दीन के सिपाहियों ने भीमसिंह का पीछा किया । राजपूत पीछा करनेवालों को कुछ देर तक बड़ी वीरता से रोके रहे पर अंत में एक-एक करके सब मारे गए ।

इधर भीमसिंह एक बहुत तेज घोड़े पर सवार होकर गोरा बादल एवं अन्य साथियों के साथ चित्तौड़गढ़ के भीतर पहुँच गया । पीछा करनेवाली सेना भी फाटक तक चली आई । फाटक पर घमासान युद्ध हुआ । इस युद्ध में गोरा मारा गया, लेकिन अलाउद्दीन को सफलता नहीं मिली ।

अलाउद्दीन ने संवत् 1346 वि० में फिर चित्तौड़गढ़ पर चढ़ाई की । इस दूसरी चढ़ाई में राणा अपने ग्यारह पुत्रों समेत मारे गए और पद्मिनी ने जौहर किया ।

टॉड का यह वृत्तांत राजपूताने में रक्षित् धारणों के इतिहास पर आधारित है । थोड़े से फेर-बदल के साथ यही वृत्तांत 'आइने अकबरी' में भी दिया हुआ है । 'आइने अकबरी' में भीमसी के स्थान पर रतनसी (रतनसिंह का रत्नसेन) नाम है । रतनसी के मारे जाने का ब्योरा भी दूसरे ढंग से है । 'आईने अकबरी' में लिखा है कि अलाउद्दीन दूसरी चढ़ाई में हारकर लौटा । वह लौटकर चित्तौड़ से सात कोस तक पहुँचा था कि रूक गया और मैत्री का नया प्रस्ताव भेजकर रतनसी को मिलने के लिए बुलाया । बार-बार की लड़ाइयों से उबकर रतनसी ने उसकी बात मान ली । एक विश्वासघाती को साथ लेकर वह अलाउद्दीन से मिलने गया और धोखे से मार डाला गया । रतनसी के संबंधी अरसी को गद्दी पर बिठाया गया । अलाउद्दीन चित्तौड़ की ओर लौटा और उसपर अधिकार कर लिया । अरसी भाग गया और पद्मिनी ने महल की अन्य स्त्रियों समेत जौहर किया ।

इन दोनों ऐतिहासिक वृत्तों के सज्ञथ जायसी द्वारा वर्णित कथा का मिलान करने पर स्पष्ट होता है कि जायसी ने कथा में आमूल-चूल परिवर्तन नहीं किया है । अपनी कल्पना का सहारा लेते हुए उसे काव्योपयोगी तथा रोचक बनाने का प्रयास किया है । 'रत्नसेन' नाम इतिहास प्रसिद्ध है उसे जायसी ने इतिहास में से ही ग्रहण किया है । लेकिन जायसी रत्नसेन को मुसलमानों से नहीं मरवाकर कुंभलनेरगढ़ के देवपाल के साथ द्वन्द्वयुद्ध के परिणामस्वरूप मारा जाना लिखा है । शायद यह देवपाल वही है जिसका उल्लेख आईने अकबरी में विश्वासघाती के रूप में हुआ है ।

जायसी ने कुछ घटनाओं और पात्रों की योजना भी अपनी तरफ से की हैं । सबसे पहले राघव चेतन की कल्पना मिलती है, जिसका जिक्र किसी इतिहासकार ने नहीं किया है । दूसरी कल्पना अलाउद्दीन और चित्तौड़गढ़ घेरने की संधि की शर्त के रूप में है । इस संधि में अलाउद्दीन समुद्र से पाई हुई पाँच वस्तुओं को देने की मांग करता है । इतिहास में दर्पण के बीच पद्मिनी की छाया देखने की शर्त है, पर दर्पण में प्रतिबिंब देखने की बात का जायसी ने आकस्मिक घटना के रूप में वर्णन किया है । इस परिवर्तन में नायक के गौरव की रक्षा हुई है । तीसरा परिवर्तन अलाउद्दीन के शिविर में बंदी होने के स्थान पर रत्नसेन का दिल्ली में बंदी होना लिखा गया है । दिल्ली में बंदी बनाए जाने से जायसी को दूती और जोगिन के वृत्तांत, रानियों के विरह और विलाप तथा गोरा और बादल के प्रयत्न विस्तार का पूरा अवकाश मिला है । देवपाल भी कल्पित पात्र है । पीछा करते हुए अलाउद्दीन के चित्तौड़ पहुँचने के पहले ही रत्नसेन का देवपाल से द्वन्द्वयुद्ध के परिणामस्वरूप मारा जाना दिखाकर और अलाउद्दीन के हाथ से न पराजित होना दिखाकर कवि ने अपने चरितनायक की आन रखी है ।

13.2.5 पद्मावत की प्रेम-पद्धति

'पद्मावत' की आख्यायिका एक प्रेमकहानी है । भारतीय कवियों में दांपत्य प्रेम के आविर्भाव वर्णन की मुख्यत: चार प्रणालियाँ मिलती हैं -

(क) प्रथमतः विवाहोपरांत विकसित होनेवाला प्रेम है, जो अत्यंत स्वाभाविक, शुद्ध और निर्मल है । यह विलासिता या कामुकता के रूप में हमारे सामने नहीं आता, बल्कि मनुष्य जीवन के बीच एक मानसिक शक्ति के रूप में दिखाई पड़ता है । आदिकाव्य रामायण में राम और सीता के बीच विकसित होनेवाला प्रेम इसी प्रकार का है ।

(ख) दूसरे प्रकार का प्रेम वह है, जो विवाह के पूर्व होता है । इसमें नायक-नायिका बिना किसी प्रयोजन के संसारक्षेत्र में घूमते-फिरते कहीं मिल जाते हैं और दोनों में सहज आकर्षण के कारण प्रीति हो जाती है । सामान्यतः नायक की ओर से नायिका को प्राप्त करने की कोशिश की जाती है । इस दौरान संयोग-वियोग के अवसर भी आते हैं, जिससे उनके बीच का प्रेम परिपक्व होता है । प्रेम की परिणति विवाह में होने पर कथा की समाप्ति हो जाती है । अभिज्ञानशाकुंतल, विक्रमोर्वशी आदि की कथा इसी कोटि की है । रामकथा को इस कोटि के अंतर्गत नहीं रख सकते, क्योंकि विवाह और जनक वाटिका में सीता से साक्षात्कार के बीच अवकाश बहुत कम है । नायक की ओर से श्री परशुराम विवाद को छोड़कर कोई अन्य व्यवधान नहीं दिखाई पड़ता ।

(ग) तीसरे प्रकार के प्रेम का उदय भोगविलास या रंगरहस्य के फलस्वरूप होता है । इसमें सपत्नियों के द्वेष, विदूषक आदि के हास-परिहास और राजाओं की स्त्रैणता का समावेश रहता है । रत्नावली, प्रियदर्शिका, कर्पूरमंजरी इत्यादि उत्तरकालीन संस्कृत नाटकों में इसी प्रकार का पौरूषविहीन, निःसार और विलासमय प्रेम का वर्णन हुआ है ।

(घ) चौथे प्रकार का प्रेम वह है, जो गुण श्रवण, चित्रदर्शन, स्वप्न दर्शन के फलस्वरूप बैठे-बिठाए उत्पन्न होता है और नायक और नायिका को संयोग किए प्रयत्नवान करता है ।

जायसी ने पद्मावत में चौथे प्रकार के प्रेम का वर्णन किया है । लेकिन इसमें अपनी प्रतिभा के बल पर कुछ विशेषता भी ले आए हैं । जायसी के शृंगार में मानसिक पक्ष प्रधान है शारीरिक गौण । चुंबन, आलिंगन आदि का वर्णन कवि ने बहुत कम किया है । केवल मन के उल्लास और वेदना का कथन अधिक किया है । प्रयत्न नायक की ओर से है और उसकी कठिनता द्वारा कवि ने नायक के प्रेम को नापा है । नायक का यह आदर्श लैला-मजनू, शीरी-फरहाद आदि उन अरबी-फारसी कहानियों के आदर्श से मिलता जुलता है, जिसमें हड्डी की ठठरी भर लिए हुए टाँकियों से पहाड़ खोद डालनेवाला आशिक पाए जाते हैं । फारस के प्रेम में नायक के प्रेम का वेग अधिक तीव्र दिखाई पड़ता है और भारत के प्रेम में नायिका के प्रेम का । जायसी ने आगे चलकर नायक और नायिका दोनों के प्रेम की तीव्रता समान करके दोनों आदर्शों का एक में मेल कर दिया है । राजा रत्नसेन सूए के मुँह से पद्मावती का रूप वर्णन सुन योगी होकर घर से निकल जाता है और मार्ग के अनेक दुःखों को झेलता हुआ समुद्र पार कर सिंहलद्वीप पहुँचता है । इधर पद्मावती भी राजा के प्रेम को सुन विरहाग्नि में जलती हुई साक्षात्कार के लिए विह्वल होती है और जब रत्नसेन को सूली की आज्ञा होती है तब उसके लिए मरने को तैयार हो जाती है ।

जायसी की प्रेम-पद्धति में इश्क के दास्तानवाली मसनवियों के प्रेम के स्वरूप को प्रधानता मिली है । परंतु बीच-बीच में भारत के लोकव्यवहार संलग्न स्वरूप का भी मेल है । इश्क की मसनवियों के समान 'पद्मावत' लोकपक्षशून्य नहीं है । राजा योगी होकर घर से निकलता है, इतना कहकर कवि यह भी कहता है कि चलते समय उसकी माता और रानी दोनों उसे रो-रोकर रोकती हैं । जैसे कवि ने राजा से संयोग होने पर पद्मावती के रस रंग का

वर्णन किया है वैसे ही सिंहलद्वीप से विदा होते समय परिजनों और सखियों से अलग होने के स्वाभाविक दुख का भी वर्णन किया है । कवि ने जगह-जगह पद्मावती को जैसे चंद्र, कमल इत्यादि के रूप में देखा है, वैसे ही उसे प्रथम समागम से डरते, सपत्नी से झगड़ते और प्रिय के हित के अनुकूल लोकव्यवहार करते भी देखा है । राघव चेतन के निकाले जाने पर राजा और राज्य के अनिष्ट की आशंका से पद्मावती उस ब्राह्मण को अपना खास कंगन दान देकर संतुष्ट करना चाहती है ।

जायसी एकांतिक प्रेम की गूढ़ता और गंभीरता के बीच-बीच में जीवन के और अंगों के साथ भी उस प्रेम के संपर्क का स्वरूप कुछ दिखाते गए हैं, इससे उनकी प्रेमगाथा पारिवारिक और सामाजिक जीवन से विच्छिन्न होने से बच गई है । उसमें भावात्मक और व्यवहारात्मक दोनों शैलियों का मेल है । पर है वह प्रेमगाथा ही, पूर्ण जीवनगाथा नहीं । ग्रंथ का पूर्वार्द्ध-आधे से अधिक भाग तो प्रेममार्ग के विवरण से ही भरा है । उत्तरार्द्ध में जीवन के और अंगों का सन्निवेश मिलता है; पर ये संपूर्णतया परिस्फुट नहीं है, दाम्पत्य प्रेम के अतिरिक्त मनुष्य की और वृत्तियाँ जिनका कुछ विस्तार के साथ समावेश है । ये यात्रा, युद्ध, सपत्नीकलह, मातृस्नेह, स्वामिभक्ति, वीरता, कृतघ्नता, छल और सतीत्व है, पर इनके होते हुए भी 'पद्मावत' को शृंगाररस प्रधान काव्य ही कह सकते हैं । 'रामचरितमानस' के समान मनुष्य जीवन की भिन्न-भिन्न बहुत-सी परिस्थितियों और संबंधों का इसमें समन्वय नहीं है ।

जायसी के पूर्वराग के वर्णन में अस्वाभाविकता दिखाई पड़ती है । इसका कारण यह है कि लौकिक प्रेम और ईश्वर प्रेम दोनों को एक साथ व्यंजित करने का प्रयत्न किया गया है । शिष्य जिस प्रकार गुरु से परोक्ष ईश्वर के स्वरूप का कुछ आभास पाकर प्रेममग्न होता है, उसी प्रकार रत्नसेन तोते के मुँह से पद्मिनी का रूपवर्णन सुन बेसुध हो जाता है । वह उसके लिए योगी होकर निकल पड़ता है । राजा रत्नसेन के सिंहल पहुँचते ही कवि ने पद्मावती की बेचैनी का वर्णन किया है । पद्मावती को अभी तक रत्नसेन के आने की कुछ भी खबर नहीं है । अतः वह व्याकुलता केवल काम की कही जा सकती है, वियोग की नहीं । बाह्य और आभ्यंतर संयोग के पीछे की वियोगदशा संभव है । यद्यपि आचार्यों ने वियोगदशा को कामदशा ही कहा है पर दोनों में अंतर है । समागम के सामान्य अभाव का दुख कामवेदना है और विशेष व्यक्ति के समागम का अभाव का दुख वियोग है । जायसी के वर्णन में दोनों का मिश्रण है ।

राजा रत्नसेन और अलाउद्दीन दोनों को रूपवर्णन के माध्यम से अनुराग पैदा हुआ है । रत्नसेन तोते के मुँह से पद्मावती का रूपवर्णन सुनकर उसके लिए योगी होकर निकल पड़ा और अलाउद्दीन ने राघव चेतन के मुख से वैसा ही वर्णन सुन करके उसके लिए चित्तौड़ पर चढ़ाई की । लेकिन रत्नसेन एक प्रेमी के रूप में दिखाई पड़ता है और दूसरा रूपलोभी के रूप में । पद्मावती का दूसरे की विवाहिता स्त्री होना और उसे पाने के लिए उग्र प्रयत्न करना, ये दोनों बातें अलाउद्दीन की चाहत को प्रेम का स्वरूप ग्रहण नहीं करने देते । अगर इन दो बातों का ख्याल न किया जाए, तो दोनों के पूर्वराग में कोई अंतर नहीं है ।

13.2.6 वियोगपक्ष

जायसी का विरह वर्णन अत्युक्तिपूर्ण और ऊहात्मक होते हुए भी गंभीर है । अतिशयोक्ति भी कहीं-कहीं दिखाई पड़ती है । हर जगह नहीं दिखाई पड़ती है । उनकी अत्युक्तियाँ बात की करामात न होकर हृदय की अत्यंत तीव्र वेदना के शब्द संकेत हैं । इनसे हृदयस्थ ताप की अनुभूति का आभास होता है । यह आभास मात्रात्मक नहीं है, संवेदनात्मक है । वस्तुतः विरहताप के वेदनात्मक स्वरूप की अत्यंत विशुद्ध व्यंजना ही जायसी की विशेषता है ।

जायसी के द्वारा नागमती का विरह वर्णन हिन्दी साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है । नागमती उपवनों के पेड़ों

के नीचे रात-रात भर रोती फिरती है । इस दशा में पशु-पक्षी, पेड़, पल्लव जो कुछ सामने आता है, उसे वह अपना दुखड़ा सुनाती है । कितना मार्मिक दशा है यह । इस दशा को प्राप्त करनेवाली महारानी कितनी उदार हो गई है । पशु-पक्षी, पेड़, पल्लव जो कुछ सामने है, उसे सगा-सा लगता है, और उसे लगता है कि इन्हें दुख सुनाने से जी हल्का होगा । सब जीवों का शिरोमणि मनुष्य और मनुष्यों का अधीश्वर राजा ! उसकी पटरानी, जो कभी बड़े-बड़े राजाओं और सरदारों की बातों की ओर भी ध्यान न देती थी, वह पक्षियों से अपने हृदय की वेदना कह रही है, उनके सामने अपना हृदय खोल रही है । हृदय की इस उदार और व्यापक दशा को कवियों ने प्रेमदशा के भीतर ही स्थान दिया है । वाल्मीकि, कालिदास आदि से लेकर जायसी, सूर, तुलसी आदि भाषाकवियों तक सबने इस दशा का सन्निवेश विप्रलंभ (कही करूण) से ही किया है । इस प्रकार का आचरण 'उन्माद' की व्यंजना के लिए दिखाया जाता है । 'उन्माद' का आविर्भाव प्रेमताप से पिघलकर फैले हुए हृदय में ही होता है । संबंध का मूल प्रेम है, अतः प्रेमदशा की भीतरी संबंध का मनुष्य का हृदय आभास पाता है, जो पशु, पक्षी, द्रुम, लता आदि के साथ अनादि काल से चला आ रहा है ।

नागमती उपवनों में रोती फिरती है । उसके विलाप से घोंसलों में बैठे हुए पक्षियों की नींद हराम हो गई है –

''फिर फिर रोव, लोइ नहिं डोला । आधी रात विहंगम बोला ।
तू कि फिरि दाहै सब पाँखी । केहि दुख रैनि न लावसि आँखीं ।।''

अन्य कवियों ने पशु-पक्षियों को संबोधन भर करने का उल्लेख करके बात और आगे नहीं बढ़ाई, जिससे ऊपर से देखने वालों का ध्यान 'उन्माद' की दशा तक ही रह जाता है । पर जायसी ने जिस प्रकार मनुष्य के हृदय में पशु पक्षियों से सहानुभूति प्राप्त करने की संभावना की है, उसी प्रकार पक्षियों के हृदय में सहानुभूति के संचार की भी ।

उन्होंने सामान्य हृदयतत्त्व की सृष्टिव्यापिनी भावना द्वारा मनुष्य और पशु पक्षी सबको एक जीवनसूत्र में बद्ध देखा है । राम के प्रश्न का खग, मृग और मधुकर कुछ जवाब नहीं देते हैं । राजा पुरूरवा कोकिल हंस इत्यादि को पुकारता ही फिरता है । पर कोई सहानुभूति प्रकट करता नहीं दिखाई पड़ता । पर नागमती की दशा पर एक पक्षी को दया आती है । वह उसके दुख का कारण पूछता है । नागमती उस पक्षी से कहती है –

''चारिउ चक्र उजार भए, कोई न संदेसा टेक ।
कहौं बिरह दुख आपन, बैठि सुनहु दंड एक ।।''

इस पर वह पक्षी संदेशा ले जाने को तैयार हो जाता है । पद्मावती से कहने के लिए नागमती ने जो संदेसा कहा है वह अत्यंत मर्मस्पर्शी है । उसमें मान, गर्व, आदि से रहित, सुखभोग की लालसा से अलग, अत्यंत नम्र, शीतल और विशुद्ध प्रेम की झलक पाई जाती है –

पद्मावती सौं कहेहु, बिहंगम । कंत लोभाइ रही करि संगम ।।
तोहि चैन सुख मिलै सरीरा । मो कहँ हिए दुंद दुख पीरा ।।
हमहुँ बियाही संग ओहि पीऊ । आपुहिं पाइ, जानु परजीऊ ।।
मोहि भोग सौं काज न, बारी । सौंह दिष्टि के चलनहारी ।।

मनुष्य के आश्रित, मनुष्य के पाले हुए पेड़-पौधे किस प्रकार मनुष्य के सुख से सुखी और दुख से दुखी दिखाई देते हैं, यह दृश्य बड़े कौशल और सहृदयता से जायसी ने दिखाया है । नागमती की विरहदशा में उसके बाग बगीचों से उदासी बरस रही थी । पेड़-पौधे सब मुरझाए पड़े थे । उनकी सुध कौन लेता ? पर राजा रत्नसेन के लौटते ही –

पलुही नागमती के बारी । सोन फूल फूलि फुलवारी ।।

जावत पंखि रहे सब दहे । सबै पखि बोले गहगहे ।।

जब पेड़-पौधे सूख रहे थे, तब पक्षी भी आश्रय न पाकर ताप से झुलस रहे थे । इस प्रकार नागमती की वियोगदशा का विस्तार केवल मनुष्य जाति तक नहीं, पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों तक दिखाई पड़ता था । विरहजन्य कृषता के वर्णन में जायसी ने अतिशयोक्ति और ऊहात्मकता का सहारा लिया है, किंतु वहाँ भी गंभीरता बनी हुई है । वर्णन मजाक नहीं बनने पाया है । बारहमासे का प्रयोग भी जायसी के विरह-वर्णन की मुख्य विशेषताओं में से एक है । बारहमासे में वेदना अत्यंत निर्मल और कोमल स्वरूप हिन्दू दांपत्य जीवन का अत्यंत मर्मस्पर्शी माधुर्य अपने चारों ओर की प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के साथ विशुद्ध भारतीय हृदय की साहचर्य भावना तथा विषय के अनुरूप भाषा का अत्यंत स्निग्ध, सरल, मृदुल और अकृत्रिम प्रवाह देखने योग्य है । पर इन कुछ विशेषताओं की ओर ध्यान जाने पर भी इसके सौंदर्य का बहुत कुछ हेतु अनिर्वचनीय रह जाती है । इस बारहमासे में वर्ष के बारह महीनों का वर्णन विप्रलंभ शृंगार के उद्दीपन की दृष्टि से है; जिसमें आनंदप्रद वस्तुओं का दुखप्रद होना दिखाया जाता है ।

प्रेम में दुख और सुख दोनों अनुभूति की मात्रा जिस प्रकार बढ़ जाती है, उसी प्रकार अनुभूति के विषयों का विस्तार भी । संयोग की अवस्था में जो प्रेम सृष्टि की सब वस्तुओं से आनन्द का संग्रह करता है, वही वियोग की दशा में सब वस्तुओं से दुख का संग्रह करने लगता है । इसी दुखद रूप में प्रत्येक मास की उन सामान्य प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का वर्णन जायसी ने किया है जिनके साहचर्य का अनुभव मनुष्यमात्र राजा से लेकर रंक तक करते हैं । बारहमासे में मुख्यतः दो बातें हैं (1) प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का दिग्दर्शन । (2) दुख के नाना रूपों और कारणों की उद्भावना । प्रथम के अंतर्गत उद्दीपन की दृष्टि से ऋतुवर्णन में संस्कृत कवियों की तरह संश्लिष्ट विभद चित्रण नहीं होता; केवल वस्तुओं और व्यापारों को अलग-अलग दिखाकर प्रेमी के हृदय की अवस्था की व्यंजना हुआ करती है । परिचित प्राकृतिक दृश्यों को साहचर्य द्वारा और कवियों की वाणी द्वारा जो मर्मस्पर्शी प्रभाव प्राप्त है उसका अनुभव उनकी ओर संकेत करने मात्र से भी सहृदयों को हो जाता है ।

दुख के नाना रूपों और कारणों की उद्भावना में जायसी की भावुकता देखते बनती है । हालाँकि बारहमासे में प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों की भी रूढ़ि के अनुसार अलग-अलग झलक भर दिखाई गई है, उनका संश्लिष्ट चित्रण नहीं है, पर एकाध जगह कवि का अपना निरीक्षण बहुत सूक्ष्म है ।

जायसी का विरहोद्गार अत्यंत मर्मस्पर्शी है । जो वेदना, जो कोमलता, जो सरलता और जो गंभीरता इनके वचनों में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । नागमती विरह दशा में अपना रानीपन बिलकुल भूल जाती है और अपने को केवल साधारण स्त्री के रूप में देखती है । इसी सामान्य स्वाभाविक वृत्ति के बल पर उसके विरहवाक्य छोटे-बड़े सब हृदयों को समान रूप से स्पर्श करते हैं । यदि कनक पर्यंक, मखमली सेज, रत्नजड़ित अलंकार, संगमरमर के महल, खसखाने इत्यादि की बातें होतीं तो वे जनता के एक बड़े भाग के अनुभव से कुछ दूर होतीं । पर जायसी ने स्त्री जाति की समुज्ज्वल रूप का विकास दिखाया है । नागमती सब जीव-जंतुओं और पशु-पक्षियों में सहानुभूति की भावना रखती है । वह कहती है -

पिउ सौं कहेउ सँदेसड़ा, हे भौंरा ! हे काग !!

सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहि क धुवाँ हाह लाग !!

इस सहानुभूति की संभावना रानी के हृदय में होती कैसे है ? यह समझकर होती है कि भौंरा और कौआ दोनों उसी विरहाग्नि के धुएँ से काले हो गए हैं जिसमें मैं जल रही हूँ । सम दुखभोगियों में परस्पर सहानुभूति का उदय अत्यंत स्वाभाविक है । नागमती का हृदय दुखमग्न है । ऐसी स्थिति में हृदय सुखद और दुखद दोनों प्रकार की वस्तुओं से दुख संग्रह करता है । सुखदायक वस्तुएँ उसके दुख को बढ़ाती हैं तो कष्टकारक वस्तुएँ और भी कष्टदायक हो जाती हैं । नागमती देखती है कि बहुतों के बिछुड़े हुए प्रिय मित्र आ रहे हैं, पर मेरे प्रिय नहीं आ रहे हैं । यह वैषम्य की भावना उसे और भी व्याकुल करती है । किसी वस्तु के अभाव से दुखी मनुष्य के हृदय की यह अत्यंत स्वाभाविक वृत्ति है । पपीहे का प्रिय पयोधर आ गया सीप के मुँह में स्वामी की बूँद पड़ गई । पर नागमती का प्रिय न आया।

चित्रा मित्र मीन कर आवा । पपिहा पीउ पुकारत पावा ।।
स्वाति बूँद चातक मुख परे । समुद्र सीप मोती सब भरे ।।
सरवर सँवरि हंस चालि आए । सारस कुरलाहिं खंजन देखाए ।।

विरह दशा में चारों तरफ फैली वस्तुएँ जी को हल्का नहीं कर पातीं । उनसे तो और भी अपनी दशा की ओर विरही का ध्यान जाता है, और भी उस दशा का दुसह स्वरूप स्पष्ट होता है – चाहे ये उसकी दुख दशा से भिन्न दशा में दिखाई पड़े, चाहे कुछ सादृश्य जिए । सादृश्य के द्वारा विरही की वेदना का उद्घाटन पुरानी परंपरा है । सादृश्य कथन अत्यंत स्वाभाविक होता है, क्योंकि इसमें उपमान के द्वारा सोचकर निकाला हुआ नहीं होता, बल्कि सामने प्रस्तुत रहता है, और प्रस्तुत रहकर उपमेय की ओर ध्यान ले जाता है । वैशाख में विरहिणी एक ओर सूखते तालों की दरारों को देखती है, दूसरी ओर विदीर्ण होते हुए अपने हृदय को । बरसात में तो एक ओर तो टपकती हुई ओलती देखती है दूसरी ओर अपने आँसुओं की धारा । एक ओर सूखे हुए 'आकजवास' को देखती है तो दूसरी ओर अपने शरीर को । शिशिर में एक ओर सूखकर झड़े हुए पीले पत्तों को देखती है, तो दूसरी ओर अपनी पीली पड़ी देह को । अतः उक्त दशाएँ 'दूर की सूझें' नहीं हैं । उनमें सादृश्य बहुत सोचा-विचारा हुआ नहीं है, उसका उदय विरहविह्वल अंतःकरण में बिना प्रयास हुआ है ।

13.2.7 जायसी का रहस्यवाद

आर्य जाति के चिंतकों ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था । इसका प्रसार सूफियों के यहाँ भी हुआ । भारतवर्ष में यह ज्ञानक्षेत्र से निकला और ज्ञानक्षेत्र तक ही सीमित रहा । लेकिन अरब, फारस में ज्ञानकांड की पद्धति न होने के कारण भावक्षेत्र के बीच मनोहर रहस्यभावना के रूप में फैला । योरोप में भी प्राचीन यूनानी दार्शनिकों द्वारा प्रतिष्ठित अद्वैतवाद ईसाई मजहब के भीतर रहस्य भावना के रूप में लिया गया ।

अद्वैतवाद के दो पक्ष हैं – आत्मा और परमात्मा की एकता तथा ब्रह्म और ज़गत की एकता । दोनों मिलकर सर्ववाद की प्रतिष्ठा करते हैं । यद्यपि साधना के क्षेत्र में सूफियों और पुराने ईसाई भक्तों द्वारा दोनों की दृष्टि प्रथम पर ही दिखाई देती है, पर भावक्षेत्र में जाकर सूफी प्रकृति की नाना विभूतियों में भी उसकी छवि का अनुभव करते आए हैं । अद्वैतवाद के मूल में एक दार्शनिक सिद्धांत है । कविकल्पना या भावना नहीं । वह मनुष्य के बुद्धिप्रयास या तत्त्वचिंतन का फल है । वह ज्ञानक्षेत्र की वस्तु है । जब उसका आधार लेकर कल्पना या भावना उठ खड़ी होती है अर्थात् जब उसका संचार भावक्षेत्र में होता है, तब उच्चकोटि के भावात्मक रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है । रहस्यवाद दो प्रकार का होता है – भावात्मक और साधनात्मक । भारतवर्ष का योगमार्ग साधनात्मक रहस्यवाद है । यह अनेक अप्राकृतिक और जटिल आभासों द्वारा मन को व्यक्त तथ्यों का साक्षात्कार कराने तथा साधक को अनेक

अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त करने की आशा देता है । तंत्र और रसायन भी साधनात्मक रहस्यवाद है; पर निम्नकोटि के । भावात्मक रहस्यवाद की भी कई श्रेणियाँ हैं जैसे, भूत प्रेम की सत्ता मानकर चलनेवाली भावना स्थूल रहस्य के अंतर्गत होगी । अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा होती है । तात्पर्य यह कि रहस्यवाद किसी विश्वास के आधार पर चलती है, विश्वास करने के लिए कोई नया तथ्य या सिद्धांत नहीं उपस्थित कर सकती, किसी नवीन ज्ञान का उदय उसके द्वारा नहीं हो सकता । जिस कोटि का ज्ञान या विश्वास होगा उसी कोटि की उससे अद्‌भुत रहस्य भावना होगी ।

कहा जा चुका है कि भारतवर्ष में साधनात्मक रहस्यवाद ही हठयोग, तंत्र और रसायन के रूप में प्रचलित था । जिस समय सूफी यहाँ आए उस समय उन्हें रहस्य की प्रवृत्ति हठयोगियों रसायनियों और तांत्रिकों में ही दिखाई पड़ी । हठयोग की तो अधिकांश बातों का समावेश उन्होंने अपनी साधना-पद्धति में कर लिया । पीछे कबीर ने भारतीय ब्रह्मवाद और सूफियों की प्रेमभावना मिलाकर जो 'निर्गुण संत मत' खड़ा किया उसमें ही 'इला, पिंगला, सुषुम्ना, नारी' तथा भीतरी चक्रों की पूरी चर्चा रही । हठयोगियों तथा नाथपंथियों की दो मुख्य बातें सूफियों और निर्गुण मतवाले संतों को अपने अनुकूल दिखाई पड़ी । (1) रहस्य की प्रवृत्ति, (2) ईश्वर को केवल मन के भीतर समझना और ढूँढ़ना ।

उक्त दोनों बातें भारतीय भक्तिमार्ग से पूरा मेल खानेवाली नहीं थीं । अवतारवाद के सिद्धान्त रूप से प्रतिष्ठित हो जाने के कारण भारतीय परंपरा का भक्त अपने उपास्य को बाहर लोक के बीच प्रतिष्ठित करके देखता है, अपने हृदय के एकांत कोने में ही नहीं । पर फारस में भावात्मक अद्वैती रहस्यवाद खूब फैला । वहाँ की शायरी पर इसका रंग बहुत गहरा चढ़ा । खलीफा लोगों के कठोर धर्मशासन के बीच भी सूफियों की प्रेममयी वाणी ने जनता को भावमग्न कर दिया । रहस्यवाद का स्फुरण सूफियों में पूरा-पूरा हुआ । कबीरदास में जो रहस्यवाद पाया जाता है, वह अधिकतर सूफियों के प्रभाव के कारण । पर कबीरदास पर इस्लाम के कट्टर एकेश्वरवाद और वेदांत के मायावाद का का रूखा संस्कार भी पूरा-पूरा था । उनमें वाक्‌चातुर्य था, प्रतिभा थी पर प्रकृति के प्रसार में भगवान की कला का दर्शन करनेवाली भावुकता न थी । इससे रहस्यमयी परोक्ष सत्ता की ओर संकेत करने के लिए जिन दृश्यों को वे सामने करते हैं, ये अधिकतर वेदांत और हठयोग की बातों के खड़े किए रूपक मात्र होते हैं । अतः कबीर में जो कुछ रहस्यवाद हैं, वह सर्वत्र एक भावुक या कवि का रहस्यवाद नहीं । हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुंदर अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत उच्चकोटि की है । ये सूफियों की भक्तिभावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूपमाधुर्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों का 'पुरुष' के समागम के हेतु प्रकृति के शृंगार, उत्कंठा का विरहविकलता के रूप में अनुभव करते हैं । दूसरे प्रकार की भावना पद्मावत में अधिक मिलती है ।

जायसी भारतीय कवि थे । भारतीय पद्धति के कवियों की दृष्टि फारसवालों की अपेक्षा प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों पर कहीं अधिक विस्तृत तथा उनके मर्मस्पर्शी स्वरूपों को कहीं अधिक परखनेवाली होती है । इससे उस रहस्यमयी सत्ता का आभास देने के लिए जायसी बहुत ही स्मरणीय और मर्मस्पर्शी दृश्यसंकेत उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं । कबीर में चित्रों की न वह अनेकरूपता है, न वह मधुरता । जायसी लौकिक दीप्ति और सौन्दर्य के जरिए उस परोक्ष ज्योति और सौंदर्यसत्ता की ओर संकेत करते हैं । प्रकृति के बीच दिखाई देनेवाली सारी दीप्ति उसी से है । उस अखंड ज्योति का आभास पाकर वह मानस जगमगा उठा । देखिए न, खिले कमल के रूप में उल्लास मामसर में चारों ओर फैला है । उस ज्योति के साक्षात्कार से अज्ञान छूट गया - प्रभात हुआ, पृथ्वी से अंधकार मिट गया । आनंद से चेहरा खिल उठा, बत्तीसी निकल आई । कमल खिल उठे और उनपर भौंरे दिखाई दे रहे हैं । अंतर्जगत और बाह्य जगत का कैसा अपूर्व सामंजस्य है -

देखि मानसर रूप सोहावा ।
हिम हुलास पुरइनि होइ छावा ।।
गा आँधियार, रैन मसि छूटी ।
आ भिनसार, किरनि रवि फूटी ।।
कँवल बिगस तस विह्वसी देहीं ।
भँवर दसन होइ कै रस लेहीं ।।

पृथ्वी और स्वर्ग, जीवन और ईश्वर, दोनों एक थे; बीच में न जाने किसने इतना भेद डाल दिया है –

''धरती सरग मिले हुत ढोऊ । केइ निनार कैं दीन्ह विधेऊ ।''

जो इस पृथ्वी और स्वर्ग के वियोगतत्त्व को समझेगा और उस वियोग में पूर्णरूप से सम्मिलित होगा उसी का वियोग सारी सृष्टि में दिखाई देगा ।

13.3. निबंध की विशेषता

विवेच्य निबंध जायसी की भूमिका के रूप में लिखा गया । यह एक विस्तृत निबंध है, जो वस्तुतः प्रबंध की विशेषताओं से युक्त है । डॉ० रामविलास शर्मा की दृष्टि में यह एक शानदार आलोचनाकृति है । ऐसा लगता है, इसे उन्होंने प्रेम से और फुर्सत में बैठकर लिखा है । ''उनकी विद्वता आत्मविश्वास, वैज्ञानिक अनुसंधान अपने सबसे निखरे हुए रूप में यहाँ दिखाई देते हैं । यहाँ शुक्ल जी ने एक ऐसे कवि को, जिसे हिन्दी के पाठक बहुत कम जानते थे, तुलसीदास के बाद हिन्दी का श्रेष्ठ कवि घोषित किया है । .....यहाँ उनके तुलनात्मक अध्ययन की पहली पद्धति खुलकर अपनी विशेषता प्रकट करती है । कहीं अंग्रेज कवि और विचारक, कहीं यूनानी आलोचक और जर्मन दार्शनिक, कहीं फारसी के कवि और अरब के विद्वान शुक्ल जी इनकी सहज चर्चा करते हुए विषय-विवेचन करते हैं । ....साथ ही उन्होंने अपने सुदीर्घ अध्ययन और चिंतन के फलस्वरूप साहित्य के संबंध में जो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं, उन्हें भी अयाचित ही पाठक को जहाँ-तहाँ देते चलते हैं । जायसी की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, दार्शनिक विचार, कलात्मक मूल्यों आदि का विवेचन हिन्दी के अनुसंधान साहित्य में एक नए अध्याय का सूत्रपात करता है । अवधी की चर्चा करते हुए उन्होंने भाषा-विज्ञान की समस्याओं पर महत्त्वपूर्ण निर्देश दिए हैं और हर जगह वाक्पटु, तर्कशास्त्री किन्तु सरस हृदय और विनोदी शुक्ल जी के व्यक्तित्व की जैसी छाप यहाँ मिलती है, वैसी अन्यत्र नहीं ।'' (आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० 63)

जायसी की यह भूमिका हिन्दी साहित्य के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री है । इससे हिन्दी साहित्य का इतिहास शृंखलाबद्ध और सांस्कृतिक इतिहास का ज्ञान भी समृद्ध हुआ है । शुक्ल जी ने कबीर के समान जायसी को हिन्दू-मुस्लिम एकता और व्यापक मानववाद का कवि माना है । ''उन्होंने इन प्रेममार्गी कवियों के संबंध में दावा किया कि वे रीतिकालीन कवियों से श्रेष्ठ हैं । यथार्थवाद की भूमि से उन्होंने जायसी का मूल्यांकन करके उर्दू-हिन्दी दोनों की दरबारी कविता की अस्वाभाविकता दिखलाई और जायसी को मानवसुलभ प्रेम का कवि घोषित किया । उन्होंने जायसी का यह उद्देश्य बतलाया कि अलौकिक प्रेम का चित्रण करें, लेकिन उन्होंने अपने विवेचन से जायसी के लौकिक प्रेम के चित्रण पर बल दिया और उसी के लिए उनकी महत्ता स्वीकार की । शुक्ल जी निर्गुणपंथ को सगुणपंथ के

बराबर प्रगतिशील न मानते थे । इसलिए कहीं-कहीं कबीर आदि पर उन्होंने ऐसे आक्षेप भी कर दिए हैं जो सही नहीं माने जा सकते । सूफीमत के प्रभाव को आँकते हुए कहीं-कहीं उन्होंने यहाँ की मूल धाराओं का महत्त्व कम करके आँका है । फिर भी यह सही है कि शुक्ल जी ने प्रेम-तत्त्व और माधुर्यभाव की भारतीय पृष्ठभूमि का उल्लेख किया है और जायसी के मूलाधार जनसंस्कृति के तत्त्वों की ओर भी संकेत किया है । इस कारण यह भूमिका न केवल जायसी को समझने के लिए वरन् समूचे मध्यकालीन साहित्य के विकास को समझने के लिए बहुत सहायता देती है ।'' (वहीं, पृ० 77)

13.4 अभ्यास के प्रश्न

1. भारतीय कवियों द्वारा प्रयोग में लाई जानेवाली प्रेमपद्धतियों का उल्लेख करते हुए जायसी की प्रेमपद्धति की विवेचना करें ।
2. नागमती के विरह-वर्णन की विशेषताओं का वर्णन करें ।
3. जायसी के रहस्यवाद पर एक टिप्पणी लिखें ।
4. भारत में प्रेमगाथा की परंपरा पर दृष्टिपात करें ।
5. पद्मावत के रचनाकाल से पहले काल और परिस्थिति के बारे में बताएँ ।
6. इस निबंध की विशेषता बताएँ ।

महाकवि सूरदास

पाठ संरचना

14.0 उद्देश्य
14.1 परिचय
14.2 काल और परिस्थिति
14.3 कवि-कर्म
14.4 संयोग-वर्णन
14.5 वियोग-वर्णन
14.6 भाषा और शैली
14.7 निबंध की विशेषता
14.8 अभ्यास के प्रश्न

14.0 उद्देश्य

भक्तिकाल के प्रमुख स्तंभ महाकवि सूरदास के काव्य को शुक्ल जी एक विशेष दृष्टि से देखते हैं और उनके काव्य की भावनात्मक गहराई को महत्त्व देते हैं । त्रिवेणी में संकलित 'महाकवि सूरदास' नामक निबंध में शुक्ल जी सूरदास के काव्य-वैभव को जिस गहराई के साथ परखा है, उससे पाठक को परिचित कराना प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य है ।

14.1 परिचय

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भ्रमरगीतसार की भूमिका में सूरदास के काव्य की विस्तृत समीक्षा की है । यह निबंध त्रिवेणी में अपने संक्षिप्त रूप से संकलित है । सूर संबंधी प्रबंध से आदि के 44 पृष्ठों का अंश लिया गया है जिसमें काल और परिस्थिति, परंपरा और संप्रदाय, कविकर्म, काव्य-पद्धति, काव्य के विशेष गुण, भाषा, भावुकता और फिर कविकर्म की विशेषताओं के विषय सन्निहित हैं । संक्षिप्त होने के कारण इस प्रसंग में अन्य निबंधों की सी पूर्वापर योजना नहीं है । इससे प्राय: एक ही विषय की बातें भिन्न स्थानों पर आ गई हैं ।

14.2 काल और परिस्थिति

सूरदास का आगमन ऐसे समय में होता है, जब मुसलमान हिन्दुस्तान पर पूरी तरह से काबिज हो चुके थे । हिन्दुओं के पास अपनी वीरगाथाओं की परंपरा पर गर्व करने का तर्क शेष नहीं बचा था । वे उसके गीत अब किस मुँह गाते ? जनता पर गहरी उदासी छा गई थी । राम और रहीम को एक बतानेवाली वाणी के भीतर छिपे कट्टर

एकेश्वरवाद के सुर ने ध्वंसात्मक तांडव आरंभ कर दिया था । हिंदू जनता अपना सर्वस्व गँवा चुकी थी, पर उसकी स्वतंत्रता की भावना अब भी जीवित थी । राजनीतिक परतंत्रता के बावजूद उसने अपनी सांस्कृतिक स्वतंत्रता का आलंबन बनाए रखा । उसने अपनी सभ्यता, अपने चिसंचित् संस्कार आदि की रक्षा के लिए राम और कृष्ण का आश्रय लिया; और उनकी भक्ति का स्रोत देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैलने लगा । अष्टछाप के कवियों ने कृष्णभक्ति के आलाप लिए, उनकी वीणा की धुन में जनता के हृदय को सौन्दर्य और माधुर्य का आलंबन प्राप्त हुआ । इस धुन में सबसे ऊँची और सुरीली झंकार सूरदास के वीणा की थी । मनुष्यता के सौन्दर्यपूर्ण और माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर इन कृष्णोपासक कवियों ने उदास छोटी जनता में जीवन के प्रति अनुराग जगाया या कम से कम, जीने की चाह बनी रहने दी ।

जीवन की दो अवस्थाएँ – बाल्यकाल और युवाकाल बड़ी मनोहर होती हैं । इनसे संबंधित परिस्थितियाँ व घटनाएँ किसी को भी आह्लादित करने में सक्षम होती हैं । सूरदास ने अपने काव्य का उपजीव्य इसे ही बनाया । उन्होंने बाल्यकाल और यौवनकाल की नाना मनोरम परिस्थितियों के विशद् चित्रण द्वारा जीवन की जो रमणीयता सामने रखी, उससे गिरे हुए हृदय नाच उठे । वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्र का जितना अधिक उद्‌घाटन सूरदास के द्वारा हुआ, वह किसी अन्य कवि के द्वारा नहीं । हिन्दी साहित्य में शृंगार का रसराजत्व सूरदास के द्वारा ही पूर्णता प्राप्त कर उपस्थित होता है ।

14.3 कवि–कर्म

विभाव पक्ष और भावपक्ष ये दो कवि–कर्म के पक्ष हैं । विभाव पक्ष के अंतर्गत ऐसी वस्तुओं का चित्रण किया जाता है, जो मन में कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को जगाने में समर्थ हो । दूसरी ओर उन वस्तुओं के अनुरूप भावों के अनेक स्वरूपों की शाब्दिक अभिव्यक्ति भावपक्ष के अंतर्गत परिगणित है । ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं, अतः दोनों साथ होते हैं । जहाँ एक पक्ष का वर्णन रहता है, वहाँ दूसरा पक्ष भी अव्यक्त रूप में आ जाता है । विभावपक्ष के अंतर्गत भी वस्तुएँ दो रूपों में लाई जाती हैं – वस्तु रूप में और अलंकार रूप में; अर्थात् प्रस्तुत रूप में और अप्रस्तुत रूप में । उदाहरणार्थ कृष्ण के वर्णन में कृष्ण के श्याम या नीलवर्ण शरीर को, उस पर पड़े पीतांबर को, त्रिभंगी मुद्रा को, स्मित आनन को, हाथ में ली हुई मुरली को, सिर के कुंचित केश और मोरमुकुट आदि को सामने रखा जाएगा । यह विन्यास वस्तुरूप में हुआ । इसी प्रकार का विन्यास यमुनातट, निकुंज की लहराती, लताओं, चन्द्रिका, कोकिलकूजन आदि का होगा । इसके साथ ही यदि कृष्ण के शोभावर्णन में घन और दामिनी, सनाल कमल आदि उपमान के रूप में आता है, तो वह विन्यास रूप में होगा । वर्ण्य विषय की परिमिति के कारण वस्तुविन्यास का जो संकोच 'सूर' की रचना में दिखाई पड़ता है उसकी बहुत कुछ कसर अलंकार के रूप में लाए हुए पदार्थों के प्राचुर्य से पूरी हो जाती है । तात्पर्य यह कि प्रस्तुत रूप में लाए हुए पदार्थों की संख्या बहुत अधिक है । दूसरे प्रकार की (अलंकारिक) रूपयोजना या व्यापार योजना किसी और (प्रस्तुत) रूप के प्रभाव को बढ़ाने के लिए होती है, अतः इसमें लाए हुए रूप या व्यापार ऐसे होने चाहिए जो प्रभाव में उन प्रस्तुत रूपों या व्यापार के समान हो । सूर अलंकार योजना के लिए अधिकतर ऐसे ही पदार्थ लाए हैं ।

सूर का कवि कर्म प्रस्तुत योजना पर आधारित है, अप्रस्तुत योजना (अलंकारिक योजना) प्रभावोत्पादन के लिए ही है । उन्होंने कृष्ण और राधा के अंग–प्रत्यंग, मुद्राओं और चेष्टाओं, यमुनातट, वंशीवट, निकुंज, गोचारण, वन विहार,

बाललीला, चोरी, नटखटी तथा कवि परिपाटी में परिगणित ऋतुसुलभ वस्तुओं तक ही अपने को परिमित रखा है । इसका मुख्य कारण यह है कि इनकी रचना गीतिकाव्य है, जिसमें मधुर ध्वनिप्रवाह के बीच कुछ चुने हुए पदार्थों और व्यापारों की झलक भर काफी है । सूरदास प्रायः फुटकर पदों की रचना करते हैं; जो एक-दूसरे से संबद्ध नहीं होते । इससे एक ही घटना से संबंध रखनेवाली बातें थोड़ी-बहुत भिन्नता के साथ आवृत्ति पाती हैं जिससे कई बार पाठक को ऊब-सी हो सकती है । परिमिति का दूसरा कारण है सूरदास के काव्य-संसार में जीवन की केवल दो अवस्थाओं को स्थान मिलना । इन दोनों - बालवृत्ति और यौवनवृत्ति - के अंतर्गत आए हुए व्यापार क्रीड़ा, उमंग और उद्रेक के रूप में है । "प्रेम भी घटनापूर्ण नहीं है । उसमें किसी प्रकार का प्रयत्न विस्तार नहीं है, जिसके भीतर नई-नई वस्तुओं और व्यापारों का संन्निवेश होता चलता है । लोकसंघर्ष से उत्पन्न विविध व्यापारों की योजना सूर का उद्देश्य नही है, उनकी रचना जीवन की अनेकरूपता की ओर नहीं गई है, बालक्रीड़ा, प्रेम के रंग रहस्य और उसकी अतृप्त वासना तक ही रह गई है । जीवन की गंभीर समस्याओं से तटस्थ रहने के कारण उसमें वस्तुगांभीर्य नहीं है, जो गोस्वामी जी की रचना में है । परिस्थिति की गंभीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गंभीरता नहीं दिखाई पड़ती, जो सीता के वियोग में है । उनका वियोग खाली बैठे का काम सा दिखाई पड़ता है । सीता अपने प्रिय से विमुक्त होकर कई सौ कोस दूसरे द्वीप में राक्षसों के बीच पड़ी हुई थीं । गोपियों के गोपाल केवल दो चार कोस दूर एक नगर में राजसुख भोग रहे थे । सूर का वियोग-वर्णन वर्णन के लिए ही है । परिस्थिति के अनुरोध से नहीं । कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा करते-करते किसी कुंज में या झाड़ी में छिपते हैं या तो कहिए कि थोड़ी देर के लिए अंतर्धान हो जाते हैं । बस, गोपियाँ मूर्च्छित होकर गिर पड़ती हैं, उनकी आँखों से आँसुओं की धारा उमड़ चलती है । पूर्ण वियोग दशा उन्हें आ घेरती है । यदि परिस्थिति का विचार करें तो ऐसा विरह वर्णन असंगत प्रतीत होता है ।"

सूर का कवि-कर्म पारिवारिक और सामाजिक जीवन को एक सीमा तक जरूर समेटता है । कृष्ण के बालचरित्र का प्रभाव उनके परिवार - नंद, यशोदा - के साथ पड़ोसियों पर भी दिखाई पड़ता है । कृष्ण के नटखट स्वभाव से सभी पुलकित होते हैं तो कभी खीझते भी हैं । पड़ोसी खीझकर प्रेम से उलाहना भी देते हैं । इस तरह एक छोटा जनसमूह कृष्ण की गतिविधियों से आनंदित है । इसी बाल लीला के भीतर कृष्ण का लोकपक्ष भी उजागर हुआ है । कंस के भेजे हुए असुरों के उत्पात से गोपों को बचाना, काली नाग को नाथकर लोगों का भय दूर करना, इंद्र के कोप से डूबती हुई बस्ती की रक्षा करना आदि कृष्ण चरित के लोकपक्ष में है । लेकिन इन थोड़े बहुत लोकपक्षीय जीवन में सूर की तल्लीनता दिखाई नहीं पड़तीं । इन्होंने इस पक्ष का विस्तृत और अनुरंजनकारी वर्णन नहीं किया है । शक्ति, शील और सौन्दर्य भगवान की इन तीन विभूतियों में से सूर ने केवल सौन्दर्य पक्ष को ही आत्मसात किया है ।

उक्त बातों के अतिरिक्त सूर का कवि-कर्म ऐकांतिक प्रेमपक्ष को ही स्पर्श करता है । उसका सम्यक् स्फुरण नहीं दिखाई पड़ता । "सूर का प्रेमपक्ष लोक से न्यारा है । गोपियों के प्रेमभाव की गंभीरता आगे चलकर उद्धव का ज्ञानगर्व मिटाती हुई दिखाई पड़ती है । वह भक्ति की एकांत साधना का आदर्श प्रतिष्ठित जल पड़ती है, लोकधर्म के किसी अंश का नहीं । सूरदास सच्चे प्रेममार्ग के त्याग और पवित्रता को ज्ञानमार्ग के त्याग और पवित्रता के समकक्ष रखने में खूब समर्थ हुए हैं; साथ ही उन्होंने उस त्याग को रागात्मिका वृत्ति द्वारा प्रेरित दिखाकर भक्तिमार्ग की सुगमता प्रतिपादित की है ।"

14.4 संयोग वर्णन

सूरदास मुख्यतः शृंगार और वात्सल्य के कवि हैं । यद्यपि अन्य रसों का भी कहीं-कहीं प्रदर्शन करते हैं; किंतु

उनकी रुचि शृंगार और वात्सल्य में ही है । इन दोनों रसों के वे सबसे बड़े कवि हैं । ध्यातव्य है कि चलती ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक कृति इन्हीं की प्राप्त होती है, जो अपनी पूर्णता में अद्‌भुत है ।

सूरदास का मन कृष्ण की बाल लीला में खूब रमा है । बाल्यजीवन का जैसा विस्तृत और विशद् वर्णन इन्होंने किया है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलता । शैशव से लेकर कौमार अवस्था तक के क्रम से लगे हुए असंख्य चित्र इनके काव्य में मिल जाएँगे । उनमें केवल बाहरी रूपों और चेष्टाओं का ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नहीं है, अपितु बालकों की अन्तःप्रकृति का भी वर्णन है । इन्होंने बाल्यभावों की सुंदर अभिव्यंजना की है । एक दृश्य द्रष्टव्य है –

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?

किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी ।

तू जो कहति बल थी बेनी ज्यों है हैं लंबी मोटी ।।

बाललीला के अनंतर गोचारण का दृश्य आता है । सूरदास ने यमुना कछारों के बीच गोचारण के बड़े सुंदर-सुंदर दृश्यों का विधान किया है । यमुना तट पर किसी बड़े पेड़ की शीतल छाया में बैठकर कभी सब सखा कलेऊ बाँटकर खाते हैं, कभी इधर-उधर दौड़ते हैं । कभी कोई चिल्लाता है –

द्रुम चढ़ि काहें न टेरत, कान्हा गैयाँ गैयन घेरत ।

धाई जाति सबन के आगे जे वृषभान दई ।।

वृंदावन के उसी सुखमय जीवन के हास-परिहास के बीच गोपियों के प्रेम का उदय होता है । गोपियाँ कृष्ण के विकसित हो रहे सौन्दर्य और मनोहर चेष्टाओं को देख मुग्ध होती चली जाती हैं । कृष्ण भी कौमार अवस्था की स्वाभाविक चपलतावश उनसे छेड़छाड़ करना आरंभ करते हैं । हास-परिहास और छेड़-छाड़ के साथ प्रेम व्यापार का अत्यंत स्वाभाविक आरंभ सूर ने दिखाया है । यहाँ जायसी की पद्धति का अनुसरण नहीं है । सूर के कृष्ण और गोपियों पर सामाजिक वर्जनाएँ नहीं हैं । वे सबके सब स्वच्छंद हैं । उनके बीच का प्रेम भी साहचर्य का प्रतिफल है । इसमें रूपलिप्सा भी समाहित है । बालक्रीड़ा के सखा-सखी अभी चलकर युवाकाल में यौवनक्रीड़ा के साथी बन जाते हैं । रूप का आकर्षण बाल्यावस्था से ही शुरू हो जाता है । राधा और कृष्ण के विशेष प्रेम की उत्पत्ति सूर ने रूप के आकर्षण द्वारा ही बताई है ।

"शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में सूर की क्षमता का कोई कवि नहीं पहुँचा है । शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि में नहीं मिलता । वृंदावन में कृष्ण और गोपियों का संपूर्ण जीवन क्रीड़ामय है और संपूर्ण क्रीड़ा संयोगपक्ष है ।"

14.5 वियोग वर्णन

सूरदास का वियोग वर्णन उनके काव्य का हृदय है । वियोग की जितनी अंतर्दशाएँ हो सकती हैं और जितने ढंग से साहित्य में उसका वर्णन हुआ है, वे सबके सब उसके भीतर मौजूद है । आरंभ वात्सल्य रस के वियोग पक्ष से हुआ है । कृष्ण के मथुरा लौटने पर नंद और यशोदा दुखमग्न हो जाते हैं । उनके हृदय में दुखों के भाव हिलोर मारते हैं । कभी यशोदा नंद से खीझती है, तो नंद यशोदा पर ही बरस पड़ते हैं । यह झुंझलाहट और उसके उलट बरस पड़ना वियोगजन्य स्थिति है, जिसका स्वाभाविक चित्रण सूर ने किया है । ग्वालसखाओं की भी यही स्थिति है

उनमें व्याकुलता और अधीरता के साथ कृष्ण की निष्ठुरता पर क्षुब्धता भी है । आगे चलकर गोपियों के वियोगवर्णन में सूर खूब रमे हैं । सूर तो मानों गोपियों के हृदय में प्रविष्ट ही हो गए हैं । उनके एक-एक मानसिक दशा को जिस गहराई से पकड़ा है, वह अद्वितीय है । शृंगार-रस का इतना बड़ा चितेरा शायद ही हिन्दी साहित्य में कोई हो । शृंगार के दोनों आंशें - संयोग और वियोग की व्यापकता बहुत अधिक है । इसलिए यह रसराज है । इस दृष्टि से महाकवि सूरदास रससागर हैं ।

संयोग के दिनों में आनन्द की तरंगे उठानेवाले प्राकृतिक पदार्थों को वियोग के दिनों में देखकर जो दुख होता है, उसकी व्यंजना के लिए कवियों में उपालंभ की चाल बहुत पहले से चली आ रही है । इस पद्धति के अनुसार वियोगिनी गोपियाँ अपने उजड़े हुए नीरस जीवन के मेल में न होने के कारण वृंदावन के हरे भरे पेड़ों को कोसती हैं । इसी प्रकार रात उन्हें साँ सी लग रही है । साँपिन की पीठ काली और पेट सफेद होता है । ऐसा प्रसिद्ध है कि वह काटकर उलट जाती है, जिससे सफेद भाग ऊपर हो जाता है । बरसात की अँधेरी रात में कभी-कभी बादलों के हट जाने से जो चाँदनी फैल जाती है वह ऐसी ही लगती है -

पिया बिनु साँपिन करी राति ।

कबहुँ जामिनी होति जुन्हैया डसि उलटी हबै जाति ।।

सूरदास घर की चारदीवारी लाँघकर समस्त वृंदावन को दृष्टिपथ में रखते हैं । यमुना के हरे-भरे कछार, करील के कुंज और वनस्थलियाँ आदि सूर के वियोगवर्णन के उपादान हैं । ऋतुओं का आना-जाना लगा हुआ है । उनका रंग प्रकृति पर उसी तरह चढ़ता उतरता है । ब्रज की गोपियाँ भिन्न-भिन्न ऋतुओं की वस्तुएँ देख मिलन की उत्कंठा को महसूस करती हैं । लेकिन कृष्ण को ऐसा महसूस नहीं होता । ऐसा प्रतीत होता है ये ऋतुएँ वहाँ नहीं जाती हैं, जहाँ कृष्ण रहते हैं । सब वृंदावन में आकर ही अड्डा जमाती हैं -

मानौ, माई ! सबन्ह इतै ही भावत ।

अब वहि देस नंदनंदन को कोउ न समौ जनावत ।।

गोपियों की अंतर्दशा ऋतुसुलभ व्यापारों के बीच भी दिखाई पड़ती है । ऐसे वर्णन में प्रस्तुत अप्रस्तुत का भेट मिट सा जाता है । विरहोन्माद में भिन्न-भिन्न प्रकार की उठती हुई भावनाओं से रंजित होकर एक ही वस्तु कभी किसी रूप में दिखाई पड़ती है तो कभी किसी रूप में । पपीहा कभी तो अपनी बोली के द्वारा प्रिय स्मरण कराकर दुख बढ़ाता हुआ प्रतीत होता है और समदुखभोगी के रूप में अत्यंत सुहृद जान पड़ता है और समान प्रेम व्रतपालन के द्वारा उनका उत्साह बढ़ाता है -

बहुत दिन जीवौ, पपीहा प्यारो ।

बासर नैनि जाँव लै बोलत, भयो बिरह जुर करो ।।

14.6 भाषा और शैली

"ब्रज की चलती बोली होने पर भी वह साहित्यिक भाषा के रूप में मिलती है, जो प्रांतों के कुछ प्रचलित शब्दों और प्रत्ययों के साथ पुरानी काव्यभाषा अपभ्रंश के शब्दों को लिए हुए है । सूर की भाषा बिलकुल बोलचाल की ब्रजभाषा नहीं है । 'जाको', 'तासो', 'वाको', चलती ब्रजभाषा के इन रूपों के समान ही 'जेहि', 'तेहि' आदि

पुराने रूपों का प्रयोग बराबर मिलता है, जो अवधी की बोलचाल में तो अब तक है, पर ब्रज की बोलचाल में सूर के समय में भी नहीं थे । पुराने निश्चयार्थक 'पै' का व्यवहार भी पाया जाता है; जैसे 'जाहि लगै सोई पै जाने प्रेम बान अनियारो ।' 'गोड़', 'आपन', 'हमार', आदि पूरबी प्रयोग भी बराबर पाए जाते हैं । कुछ पंजाबी प्रयोग भी मौजूद हैं । जैसे, महँगी के अर्थ में 'प्यारी' शब्द । ये सब बातें एक व्यापक काव्य-भाषा की सूचना देती है । .....सूर की रचना जयदेव और विद्यापति के गीतिकाव्यों की शैली पर है, जिनमें सुर और लय के सौन्दर्य और माधुर्य का भी रसपरिपाक में बहुत कुछ योग रहता है । नाद-सौन्दर्य के साधनों में अनुप्रास आदि शब्दालंकार भी है । सूर में चलती भाषा की कोमलता है, वृत्ति विधान और अनुप्रास की ओर झुकाव कम है । इससे भाषा की स्वाभाविकता में बाधा नहीं पड़ने पाई है । भावुक सूर ने अपना 'शब्दशोधन' दूसरी ओर दिखाया है । उन्होंने चलते हुए वाक्यों, मुहावरों और कहीं-कहीं कहावतों का बहुत अच्छा प्रयोग किया है । कहने का तात्पर्य यह है कि सूर की भाषा बहुत चलती हुई और स्वाभाविक है । काव्यभाषा होने से यद्यपि उसमें कहीं-कहीं संस्कृत के 46 कवि के समय से पूर्व के परंपरागत प्रयोग तथा ब्रज से दूर-दूर के प्रदेशों के भी शब्द आ गए हैं, पर उनकी मात्रा इतनी नहीं है कि भाषा के स्वरूप में कुछ अंतर पड़े या कृत्रिमता आवे । श्लेष और यमक कूट पदों में ही अधिकतर पाए जाते हैं ।

14.7 निबंध की विशेषता

विवेच्य निबंध में शुक्ल जी ने सूरदास और उनके काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डाला है । युगीन परिस्थितियों के सापेक्ष सूर के काव्य को परखते हुए उन्होंने महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ दी हैं । सूरदास को श्रृंगार-बाल्यवृत्ति और युवावृत्ति का सबसे बड़ा कवि माना है । साथ ही यह बतलाया है कि "मनुष्यता के सौन्दर्यपूर्ण और माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर इन कृष्णोपासक वैष्णव कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया, या कम-से-कम जीने की चाह बनी रहने दी ।"

शुक्ल जी ने सूर युग की जनता को निराश और उदास पाया है, क्योंकि मुस्लिम शासन स्थापित हो चुका था । हिन्दुओं की वीरगाथात्मक परंपरा पर गर्व करने के सारे कारण ध्वस्त हो चुके थे । मुसलमानों की क्रूरता और कट्टरता का प्रतिरोध अब संभव न था । इस तरह शुक्ल जी मानते हैं कि जनता की निराशा का कारण मुस्लिम सत्ता है । लेकिन डॉ० रामविलास शर्मा मुस्लिम शासन के सहयोगी देशी सामंतों को भी इसका जिम्मेदार माना है । "सत्ता में भाग लेने वाले देशी सामंत भी थे, उन सामंतों के देशी सहायक पंडे और पुरोहित भी थे । स्वयं शुक्ल जी ने दरबारी कवियों को चुन-चुनकर सुनामी है, उससे स्पष्ट है कि उनकी सहानुभूति देशरक्षा के इन ठेकेदारों के साथ न थी । फिर भी उनके विवेचन में देशी सामंतों की भूमिका हर जगह स्पष्ट नहीं है; इसलिए उन्होंने निराशा का कारण मुस्लिम शासन बताया है और लोकधर्म से विमुख कवियों को विदेशी मतों से प्रभावित कहा है ।"

शुक्ल जी की दृष्टि में राम और कृष्ण की उपासना का महत्त्व इस रूप में अधिक है कि "ये चरित्र अत्याचार का दमन करनेवाले थे, इसलिए जनता में भी वीर भावों का संचार करने वाले थे ।" शुक्ल जी भागवत के कृष्ण से महाभारत के कृष्ण को बेहतर मानते हैं । महाभारत के कृष्ण लोक-मंगल का साधन करनेवाले थे, उनमें शक्ति, शील और सोन्दर्य तीनों का समन्वय था । लेकिन उनकी शिकायत यह है कि आगे चलकर कृष्ण के भक्तिमार्ग से कर्म पक्ष हटता गया । वे मुख्यत: प्रेम के आलंबन होकर रह गए । कृष्ण भक्त ब्रजलीला तक अपने को सीमित रखने को । उनकी रचनाओं में शुक्ल जी के अनुसार, 'जीवन के अनेक गंभीर पक्षों के मार्मिक रूप' स्फुरित न हुए, न उनमें

'अनेकरूपता' आई । शुक्ल जी को यही शिकायत जायसी से भी थी । जायसी कृष्ण भक्त न थे, लेकिन सूर की तरह वह भी प्रेम के कवि थे । ''इसलिए न तो सूर के प्रेमगीतों का कारण यह हो सकता है कि लोग कृष्ण का वीर रूप भूल गए थे और न उन गीतों का यह परिणाम हो सकता था कि मुरझाया हुआ हिन्दू जीवन फिर लहलहा उठा । यदि मुरझाए हुए जीवन के लिए सूर के गीतों की आवश्यकता पड़ी तो यही कारण जायसी के काव्य का भी हो सकता था ।'' (वही, 88) उक्त संदर्भ में डॉ० रामविलास शर्मा का कहना है कि ''हिन्दू और मुसलमान जनसाधारण सामंती व्यवस्था से पीड़ित थे । दोनों धर्मों में प्रेम के गीत गाने वाले पैदा हुए, क्योंकि उन प्रेमगीतों की उपज इसी सामाजिक भूमि से हो रही थी । जायसी की रचनाओं के पाठक मुसलमान भी थे । इससे परिणाम निकलता है कि जो लोग इस्लाम और हिन्दू धर्म की टक्कर में मध्यकालीन समाज की आशा, निराशा का श्रोत ढूँढते हैं, वे उस समय के साहित्यिक आंदोलनों के सामाजिक आधार का सही-सही पता नहीं लगा सकते । जायसी और सूर एक ही समाज या एक से ही समाज के प्राणी थे । यह समाज ऐसा था जिसमें नए व्यापारी वर्ग की बढ़ती के साथ-साथ कारीगरों, जुलाहों और किसानों में मुक्ति की आकांक्षा बढ़ रही थी । हर सामन्ती समाज में पुरोहितों ने जनता को परलोक के लिए जीना, इस लोक के जीवन के दुखों का कारण अपने पापों में ढूँढ़ना सिखाया है । जीवन की अस्वीकृति के विरोध में, सामंती शिकंजा जरा ढीला होने पर, जब जनता को साँस लेने का अवकाश मिला, तब उसने जीवन में अपनी आस्था प्रकट करना शुरू किया । उसने तरह-तरह के प्रतीकों द्वारा अपने हृदय के मानव सुलभ भावों को व्यक्त करना आरंभ कर दिया । सूर और जायसी इस जीवन की स्वीकृति की वाणी है । इस वाणी को सामंतों ने दबा रखा था, उस दबाव को तोड़कर ब्रज और अवध की धरती से यह प्रेम की सरस धारा फूट पड़ी । यह उसका सामंत विरोधी पक्ष है जिसे भुलाना सही न होगा ।'' (वही, पृ० 89)

शुक्ल जी ने सूर की कृष्ण भक्ति का संबंध जयेदव और विद्यापति से जोड़ा है । मुख्य बात यह है कि उन्होंने सूर की कविता का संबंध ब्रज की लोक संस्कृति, विशेषकर वहाँ के लोकगीतों की परंपरा से जोड़ा है । शुक्ल जी ने सूर के गीतों पर लिखते हुए लोकगीतों को किसी भी देश की मूल काव्यधारा समझने के लिए प्रमुख साधन माना है । उनके ये वाक्य हिन्दी आलोचना के भावी विकास की दिशा बतलाते हैं, ''किसी देश की काव्य धारा के मूल प्राकृतिक स्वरूप का परिचय हमें चिरकाल के चले आते हुए इन्हीं गीतों से मिल सकता है । घर-घर प्रचलित स्त्रियों के घरेलू गीतों में शृंगार और करूण दोनों रसों का बहुत स्वाभाविक विकास पाएँगे । इसी प्रकार आल्हा, कड़रवा आदि पुरुषों के गीतों में वीरता की व्यंजना की सरल स्वाभाविक पद्धति मिलेगी । देश की अन्तर्वर्तिनी मूल भावधारा के स्वरूप के ठीक-ठीक परिचय के लिए ऐसे गीतों का पूर्ण संग्रह बहुत आवश्यक है ।''

आचार्य शुक्ल सूरदास की प्रतिभा पर मुग्ध हैं । उन्हें ऐसा लगता है कि ऐसी प्रतिभा किसी सुदीर्घ परंपरा का ही विकसित रूप हो सकता है । वे लिखते हैं - ''सूरसागर किसी चली आती हुई गीतिकाव्य परंपरा - चाहे वह मौखिक ही रही हो - पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है ।''

इसपर डॉ० रामविलास की टिप्पणी है, ''सूर ही नहीं; उस समय के जितने महाकवि हुए हैं - तुलसी भी - उनका लोकगीतों की परंपरा से गहरा संबंध रहा है । उनकी रचनाएँ लोकगीतों के इतने निकट हैं कि वे उनकी परंपरा का अंग भी बन गई हैं । इसका कारण यह था कि भक्त कवियों ने जनसंस्कृति को अपना आधार बनाया था; इसी आधार के कारण वे अपनी काव्यकला को ऐसा लोकप्रिय रूप दे सके, लेकिन उनकी प्रतिभा का महत्त्व कम नहीं होता । उनकी श्रेष्ठ रचनाओं का कलात्मक सौन्दर्य आमतौर से सुन्दर लोकगीतों से बहुत ऊँचा है । उन्होंने लोकगीतों

को अपनाया लेकिन उस परंपरा का स्तर और ऊँचा किया; उसमें संस्कृत साहित्य के अध्ययन से लाभ उठाकर नया उत्कर्ष पैदा किया । सूर की रचनाएँ ब्रज की संस्कृति, यहाँ के प्रचलित ग्रामगीतों पर अवलंबित हैं । इन्हीं का निखरा हुआ सौन्दर्य उनमें मिलता है ।'' इस संदर्भ में शुक्ल जी ने लोकगीतों का हवाला दिया है । डॉ० शर्मा इसे उनकी सूझबूझ का प्रमाण मानते हैं ।

शुक्ल सूर के काव्यक्षेत्र को सीमित मानते हैं । उसकी परिमिति का कारण भी बताते हैं । लेकिन ऊँचे दर्जे की तन्मयता को खूब सराहते हैं । शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में उन्होंने सूर को अद्वितीय माना है । गीतावली में तुलसी ने भी बालवर्णन किया है । लेकिन उन्हें सूर जैसी सफलता नहीं मिली है । शुक्ल जी का यह निष्कर्ष उन्हें तुलसी के अन्धभक्त कहे जाने के तर्क का खंडन है ।

शुक्ल जी ने सूर की सहृदयता और भावुकता के साथ उनकी 'चतुरता और वाग्विदग्धता' की सराहना की है । काव्य के क्षेत्र में ऐसी बौद्धिक प्रक्रिया तक अन्य आलोचकों की नजर नहीं पहुँच सकी है । एक ही बात को सूर अनेक तरह से कह सकने में समर्थ हैं । गोपियों के वचन में वक्रता के अनेक उदाहरण मिलते हैं । एक उदाहरण देखें –

निरखत अंक श्यामसुंदर के बारबार लावति छाती ।

लोचन जल कागद मसि मिलि कै है गई श्याम श्याम की बाती ।

शुक्ल जी ने इन पंक्तियों की व्याख्या करते हुए 'अंक' और 'श्याम' में श्लेष की तारीफ की है, सूर के 'लाघव' और 'मजमून की चुस्ती' की दाद दी है और यह बताना नहीं भूले कि केशवदास के ढंग पर सूर यही सब लिखते तो वह कितना बेतुका हो जाता ।

शुक्ल जी ने सूर की भाषा को चलती ब्रजभाषा कहा है, लेकिन यह भी जता दिया है कि ''वह बिलकुल बोलचाल की ब्रजभाषा नहीं है ।'' सूर की भाषा में पुराने रूपों, अपभ्रंश के शब्दों आदि का हवाला देकर शुक्ल जी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि उस समय तक 'एक व्यापक काव्य भाषा' रही होगी । संभव है ऐसा न भी हो, लेकिन सूर की भाषा व्यापक अवश्य है । जायसी की-सी अति स्थानीयता उनमें नहीं है । जायसी की तुलना में उनकी अधिक लोकप्रियता का यह भी एक कारण है ।

शुक्ल जी ने सूर-साहित्य पर कुछ आपत्तियाँ भी की हैं । कहीं-कहीं सूर-साहित्य पर कुछ आपत्तियाँ भी की हैं । कहीं-कहीं सूर ने उपमानों को लेकर खेल किया है 'अद्‌भुत एक अनुपम बाग' आदि में । उन्होंने यह भी दिखाया है कि सूर-साहित्य समान रूप से सुन्दर नहीं है और सूर का प्रतिदिन गीत रचना इसका एक कारण बताया है । लेकिन उनकी मुख्य आपत्ति लोकसंग्रह के अभाव को लेकर है । उनका विचार है कि सूर 'अपने रंग में मस्त रहनेवाले जीव थे ।' उनमें तुलसी में समान लोकसंग्रह का भाव न था और समाज किधर जा रहा है, इस बात की ये परवाह नहीं करते थे । उन्होंने कृष्ण का प्रेममय रूप ही लिया, चाहते तो वह हृदय की अन्य वृत्तियों के रंजनकारी रूप भी कृष्ण में पा सकते थे । कृष्ण का यह रूप एकदेशीय था । उन्होंने जिस प्रेम का वर्णन किया है, वह भी घटनापूर्ण नहीं है । शुक्ल जी को यह बात अस्वाभाविक लगती है कि कृष्ण के इतना निकट होते हुए भी गोपियाँ विरह में तड़पा करती हैं और चार कदम चलकर उनसे मिल नहीं आतीं । उन्हें इस पर भी आपत्ति है कि विरह से परेशान सिर्फ गोपियाँ हैं, कृष्ण नहीं । सूर में जीवन की अनेकरूपता का अभाव है, वह जीवन की गंभीर समस्याओं से तटस्थ है, ''लोक

संघर्ष से उत्पन्न विविध व्यापारों की योजना सूर का उद्देश्य नहीं।'' गोपियों के वियोग में सीता के वियोग की-सी गंभीरता नहीं है । कृष्ण के चरित में जो थोड़ा-बहुत लोकसंग्रह दिखाई पड़ता है उसमें सूर की वृत्ति लीन नहीं हुई है । दैत्यों का संहार करनेवाला रूप सूर को प्रिय नहीं है । इस सिलसिले में सूर और तुलसी की तुलना करते हुए शुक्ल जी लिखते हैं, ''जिस ओज और उत्साह से तुलसीदास जी ने मारीच, ताड़का, खर-दूषण आदि के निपात का वर्णन किया है, उस ओज और उत्साह से सूरदास ने बकासुर, अकासुर, कंस आदि के वध और इन्द्र के गर्वमोचन का वर्णन नहीं किया है ।''

14.8 अभ्यास के प्रश्न

1. सूरयुगीन परिस्थितियों की चर्चा करें ।
2. कवि-कर्म के विषय में शुक्ल जी के क्या विचार हैं ? इसे स्पष्ट करें ।
3. सूर का वात्सल्य-वर्णन या संयोग-वर्णन किन कारणों से विशिष्ट है ? इसे स्पष्ट करें ।
4. सूर के वियोग-वर्णन की विशेषता बताएँ ।
5. निबंध की समीक्षा करें ।

गोस्वामी तुलसीदास

पाठ संरचना

15.0 उद्देश्य
15.1 परिचय
15.2 तुलसी की भावुकता
15.3 तुलसी की काव्य-पद्धति
15.4 शील निरूपण और चरित्र-चित्रण
15.5 अभ्यास के प्रश्न

15.0 उद्देश्य

महाकवि तुलसीदास भक्तिकाल के श्रेष्ठ कवि हैं । आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने तुलसी ग्रंथावली संपादित की और उसकी भूमिका लिखी । ग्रंथावली की भूमिका अत्यंत विस्तृत है । इतना कि उसे समालोचनात्मक प्रबंध कहा गया है । प्रस्तुत इकाई में उस प्रबंध के विशिष्ट अंगों का अध्ययन व विश्लेषण का प्रयास किया है । तुलसी साहित्य को समझने के लिए इस प्रबंध का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है ।

15.1 परिचय

'त्रिवेणी' में संकलित शुक्ल जी का तीसरा प्रबंध गोस्वामी तुलसीदास के साहित्य पर आधारित है । यह प्रबंध अपने मूलरूप में काफी बड़ा है और पुस्तकाकार प्रकाशित भी है । त्रिवेणी में मूल प्रबंध का विशिष्ट अंश तुलसी की काव्य पद्धति, तुलसी की भावुकता, शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण को ही लिया गया है । वस्तुतः उक्त प्रबंध तुलसी ग्रंथावली की भूमिका के रूप में लिखा गया था, जिसमें तुलसीदास का जीवनवृत्त और उनके साहित्य का गवेषणात्मक अनुशीलन प्रस्तुत है । शुक्ल जी ने इस प्रबंध को बड़े मनोयोग से लिखा है और तुलसी साहित्य के हरेक पक्ष पर गहराई से विचार किया है । तुलसी और उनके युग को समझने के लिए यह प्रबंध किसी भी अन्य आलोचना पुस्तक से ज्यादा मौलिक और प्रामाणिक है ।

15.2 तुलसी की भावुकता

रामकथा के भीतर अनेक मर्मस्पर्शी स्थल हैं । इन स्थलों को गोस्वामी जी ने अच्छी तरह पहचाना है । यह उनकी भावुकता का प्रमाण है । तुलसी की भावुकता, राम का अयोध्या त्याग और पथिक के रूप में वनगमन, चित्रकूट में राम और भरत का मिलन, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मण को शक्तिबाण लगने पर रामविलाप, भरत की प्रतीक्षा आदि स्थलों पर दिखाई पड़ती है । उन्होंने इन स्थलों का अधिक विस्तृत और विशद् वर्णन किया है ।

आचार्य शुक्ल की दृष्टि में भाई और पत्नी के साथ राम का वनगमन एक मर्मस्पर्शी दृश्य है । इसलिए गोस्वामी जी ने रामचरितमानस, कवितावली और गीतावली तीनों में उसका अत्यंत सहृदयता से वर्णन किया है । ऐसा दृश्य स्त्रियों के हृदय को सबसे अधिक स्पर्श करनेवाला, उनकी प्रीति, दया और आत्मत्याग को सबसे अधिक उभारनेवाला होता है, यह बात समझकर मार्ग में उन्होंने (तुलसीदास ने) ग्रामवधुओं का सन्निवेश किया है ।' शुक्ल जी के अनुसार गोस्वामी जी का ध्यान इस बात की ओर भी था कि स्त्रियाँ भी रामचरितमानस पढ़ेंगी या सुनेंगी और इसलिए विशेष रूप से उनके हृदय को स्पर्श करने के लिए उन्होंने ग्रामवधुओं का चित्रण किया है । तुलसीदास ग्रामवधुओं का चित्रण जानबूझ कर किया हो या रस प्रवाह के कारण; एक बात स्पष्ट है कि उनकी भावुकता का अवलंब वे स्त्रियाँ बनती हैं । जाहिर है उन्हें उनसे गहरी सहानुभूति भी । स्त्रियाँ भावुक होती हैं । भावोत्प्रेरक दृश्यों से उनका स्वाभाविक लगाव होता है । अत: तुलसीदास की भावुकता ऐसे चित्रण में दिखाई दे, तो स्वाभाविक ही है ।

अयोध्या त्याग के समय भी तुलसी की भावना उमड़ पड़ी है । राम से स्नेह रखनेवाले पशु-पक्षी, दास-दासियाँ, सर-सरिता श्रीहीन हो गए हैं । ऐसे समय में राम की सुशीलता वातावरण को और अधिक मर्मस्पर्शी बना रही है । गोस्वामी तुलसीदास जैसा संवेदनशील कवि अयोध्या की विषादमग्नता को बहुत करीब से पकड़ सका है । यही हाल चित्रकूट में राम और भरत के मिलाप के समय का भी है । शुक्ल जी इस मिलाप के दृश्य पर मुग्ध हैं । उनकी दृष्टि में 'चित्रकूट में राम और भरत का जो मिलन हुआ है, वह शील और शील का, स्नेह और स्नेह का, नीति और नीति का मिलन है । इस मिलन से संघटित उत्कर्ष की दिव्य प्रभा देखने योग्य है । यह झाँकी अपूर्व है ।'' चित्रकूट में एक पूज्य समाज का आविर्भाव हुआ है । इस समाज की शीलसंदर्भ की मनोहारिणी छटा को देखकर वन के कोल-किरात मुग्ध होकर सात्विक वृत्ति में लीन हो गए । शुक्ल जी कहते हैं, ''उस पुण्यसमाज के प्रभाव से चित्रकूट की रमणीयता में पवित्रता में मिल गई । उस समाज के भीतर नीति, स्नेह, शील, विनय, त्याग आदि के संघर्ष से जो धर्मज्योति फूटी, उससे आसपास का सारा प्रदेश जगमगा उठा । उसकी मधुर स्मृति से आज भी वहाँ की वनस्थली परम-पवित्र है । चित्रकूट की उस सभा की कार्यवाई क्या थी, धर्म के एक-एक अंग की पूर्ण और मनोहर अभिव्यक्ति थी । रामचरितमानस में वह सभा एक आध्यात्मिक घटना है । धर्म के इतने स्वरूपों की एक साथ योजना, हृदय की इतनी उदात्त वृत्तियों की एक साथ उद्‌भावना, तुलसी के ही विशाल मानस में संभव थी । यह संभावना उस समाज के भीतर बहुत से भिन्न-भिन्न वर्गों के समावेश द्वारा संघटित की गई है । राजा और प्रजा, गुरु और शिष्य, भाई और भाई, माता और पुत्र, पिता और पुत्री, श्वसुर और जामातृ, सास और बहू, क्षत्रिय और ब्राह्मण, ब्राह्मण और शूद्र, सभ्य और असभ्य के परस्पर व्यवहारों के उपस्थित प्रसंग के धर्मगांभीर्य और भावोत्कर्ष के कारण अत्यंत मनोहर रूप प्रस्फुटित हुआ । धर्म के उस स्वरूप को देख सब मोहित हो गए - क्या नागरिक, क्या ग्रामीण और क्या जंगली ।''

शुक्ल जी ने चित्रकूट प्रसंग में परिवार और समाज की ऊँची-नीची श्रेणियों के बीच अनेक संबंधों के उत्कर्ष को देखा है । उनका मानना है कि कवि की भावुकता इसी में है कि वह प्रत्येक मानव स्थिति में स्वयं को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे । कहने की आवश्यकता नहीं है कि कवि की इस क्षमता की परीक्षा का रामचरित से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र अन्यत्र नहीं मिल सकता । जीवन स्थिति के इतने भेद यही पर संभव है, अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ते । खास बात यह है कि गोस्वामी तुलसीदास जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सके हैं और पाठक के सामने अपनी शब्दशक्ति द्वारा अभिव्यक्त कर सके हैं । हिन्दी के कवियों में ऐसी सर्वांगपूर्ण भावुकता केवल तुलसीदास में है ।

तुलसी की भावुकता का उदाहरण केवल चित्रकूट प्रसंग ही नहीं है । दांपत्य प्रेम के दृश्यों में, दुख की परिस्थितियों में, द्विविधापूर्ण स्थिति में, शोक के चित्रण में, वियोग और आत्मग्लानि के चित्रण में भी तुलसी की भावुकता देखते बनती है । लक्ष्मण को शक्ति बाण लगने पर राम की हृदय दशा का जो चित्रण है, वह अद्वितीय है । मानवीय स्वाभाविकता मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र का अतिक्रमण करता हुआ प्रतीत होता है । इस स्थल पर तुलसी ने जो भावुकता दिखाई है, उसमें थोड़ी सी कंजूसी करते तो भ्रातृत्व प्रेम का, और उसके वियोग से उत्पन्न मर्मस्पर्शी भावदशा को पकड़ने में तुलसी पिछड़ जाते । यही वह स्थल है जहाँ नारायण में नर की अवस्थिति का आभास होता है अथवा नारायण और नर में अभेद दिखाकर तुलसी ने अपनी भक्ति-पद्धति का सारा निचोड़ सामने लाकर रख दिया है ।

15.3 तुलसी की काव्य पद्धति

शुक्ल जी ने काव्य रचना में प्रबंधों को बहुत अधिक महत्त्व दिया है । कविता में केवल हृदय के उच्छ्वासों का ही चित्रण नहीं किया जाता, जीवन का भी चित्रण किया जाता है । रामचरितमानस की कथावस्तु का विवेचन करते हुए शुक्ल जी ने यह दिखाया है कि गोस्वामी जी ने किस तरह विभिन्न घटनाओं का चतुराई से उपयोग करके रसात्मकता बढ़ाई है । घटनाओं का नाटकीय प्रयोग तुलसी की काव्य-पद्धति की मुख्य विशेषता है । उन्होंने परशुराम संवाद विवाह के बाद नहीं, पहले ही रखा है जिससे 'सीता पर उसका अनुरागवर्धक प्रभाव पड़ा था ।' तुलसी ने कथा के सबसे मार्मिक स्थलों को पहचाना है और उसका उचित उपयोग किया है । राम का वनगमन, चित्रकूट में राम-भरत मिलन, लक्ष्मण को शक्तिबाण लगना आदि प्रसंगों में तुलसी की नाटकीय चतुराई देखते बनती है । तुलसी ने प्रबंध प्रवाह के भीतर अलंकारों का प्रयोग खूब किया है । शुक्ल जी के अनुसार कला की उत्कृष्टता इस बात में है कि हर चीज कथाप्रवाह की सहायता के लिए हो । शुक्ल जी का दृष्टिकोण है कि रामचरित पर लिखने से ही कोई महाकवि नहीं हो जाता । यही कारण है कि रामचन्द्रिका को शुक्ल जी 'फुटकर पद्यों का संग्रह' कहते हैं ।

शुक्ल जी की दृष्टि में तुलसी-साहित्य दोषरहित नहीं है । उसमें ऐसे दोष हैं जो कलात्मक सौन्दर्य में बाधक हैं । कवि पर धर्मोपदेष्टा और नीतिकार का हावी होना शुक्ल जी को पसंद नहीं है । ''शुद्ध काव्य की दृष्टि से देखने पर उसके बहुत-से प्रसंग और वर्णन खटकते हैं; जैसे पतिव्रत और मित्रधर्म के उपदेश, उत्तरकांड में गरूड़पुराण के ढंग के कर्मों का ऐसा फलाफल का कथन । ऐसे स्थलों पर गोस्वामी जी का कवि रूप नहीं उपदेशक का ही रूप है ।

शुक्ल जी ने भाषा पर महाकवि के असाधारण अधिकार के अनेक उदाहरण दिए हैं । उनकी भाषा के गठन में जो अनेक बोलियों के तत्त्व मिले हैं उनका अध्ययन करने के लिए मूल्यवान सुझाव दिए हैं । शुक्ल जी उन कवियों से सख्त नाराज है जो भाषा के साथ मनमाना व्यवहार करते हैं, वाक्य-रचना आदि के नियमों का ध्यान नहीं रखते । इन्हें कोसते हुए उन्होंने लिखा है : ''हिन्दी का भी व्याकरण है, 'भाषा' में भी वाक्य रचना के नियम हैं, अधिकतर लोगों ने इस बात को सुनकर कवित्त सवैयों के चार पैर खड़े किए हैं ।'' वह इस बात से प्रसन्न हैं कि गोस्वामी जी ने वाक्यों की सफाई और वाक्य-रचना की निर्दोषता का ख्याल रखा है, वाक्यों में शैथिल्य नहीं आने दिया ।

शुक्ल जी तुलसी द्वारा अलंकारों के प्रयोग की विशेषता यह मानते हैं कि जो अलंकार नहीं पहचानते वे भी 'अर्थ ग्रहण करके पूरा आनन्द उठाते हैं ।'

15.4 शील निरूपण और चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण की विशेषताएँ दिखाते हुए शुक्ल जी ने राम और दशरथ की परस्पर भिन्नता की बात उठाई है । दशरथ राम के पिता थे, इसलिए शुक्लजी उनके भक्त नहीं हो गए । दशरथ ने कैकेयी के वश होकर राम के साथ अन्याय किया, शुक्लजी इस बात को नहीं भुला पाते । वरदान वाली बात उनके गले से नीचे नहीं उतरती । इस तरह का काम ''स्त्रैण होने का ही परिचय देना है ।'' इसके विपरीत धीर-वीर राम का चरित्र है जो पिता की तुलना में और भी उज्ज्वल हो उठता है ।

प्रतिद्वन्द्वी नायक में भी कुछ बात होनी चाहिए, कवि-कौशल का यह सूत्र शुक्लजी को मालूम है । उन्होंने रावण की कष्ट सहिष्णुता, धीरता, राक्षसकुल के पालन आदि का विवेचन किया है । रावण पाप का अवतार नहीं है; इसीलिए कथा की रोचकता नष्ट नहीं होने पाती ।

राम और लक्ष्मण का चरित्र आख्यानक में सर्वाधिक पूर्ण दिखाई पड़ता है । इसका मुख्य कारण यह है कि दोनों जीवन की कठिनतम परिस्थितियों में साथ रहे । भिन्न-भिन्न मनोविकारों को उभारनेवाले जितने अवसर उनके सामने आए हैं, उतने और किसी पात्र के सामने नहीं । भरत का चरित्र ही उज्ज्वला, निर्मलता और निर्दोषता की कसौटी पर अव्वल है । भरत के चरित्र का अंकन कम हुआ है, पर जितना हुआ है उसमें कई बार उनका चरित्र राम से भी अधिक उत्कर्ष प्राप्त करता दिखाई पड़ता है । शुक्लजी ने इसका कारण बताया है कि ऐसा चित्रण की अपूर्णता के कारण हुआ है । लेकिन यह भी असंदिग्ध है कि जिस परिस्थिति में भरत दिखाए गए हैं उससे बढ़कर शील की कसौटी संभव नहीं है ।

धीरता, गंभीरता और कोमलता राम के चरित्र की मुख्य विशेषता है । खास बात यह है कि उनको अपनी शक्ति का पूरा ज्ञान है और इसलिए उनमें उत्साह की कमी नहीं होती । बाल्यावस्था में ही विश्वामित्र के साथ दोनों भाई घर से बाहर रहकर अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा ली और विघ्नकारी विकट राक्षसों पर उसकी परीक्षा की । इसमें दोनों भाइयों का उल्लासपूर्ण उत्साह दिखाई पड़ता है । चौदह वर्ष तक वन में रहकर अनेक कष्टों का सामना करते हुए जगत् को परेशान करनेवाले कुंभकर्ण और रावण को मारते हुए राम और लक्ष्मण का चारित्रिक विकास होता है । इस प्रकार वीरता का विकास करनेवाली विविध परिस्थितियाँ क्रम से रामचरितमानस में आती हैं । इन परिस्थितियों का सामना करते हुए राम और लक्ष्मण की वीरता में कोई अंतर नहीं दिखाई पड़ता । दोनों पृथ्वी के अद्वितीय वीर हैं । लेकिन सीता के स्वयंवर के समय दोनों के स्वभाव में स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ता है, यह अंतर आरंभ से अंत तक बना रहता है । जनक के परिताप वचन पर उग्रता और परशुराम की बातों के उत्तर में जो चपलता दिखाई पड़ती है उसका निर्वाह भी अंत तक हुआ है । इसी प्रकार राम की धीरता और गंभीरता परशुराम के साथ बातचीत में जिस तरह से दिखाई पड़ती है, वह भी आगे बनी रहती है । निष्कर्षत: कह सकते हैं कि राम का स्वभाव धीर और गंभीर था, जबकि लक्ष्मण का उग्र और चपल ।

शुक्ल जी को राम के उज्ज्वल चरित्र में एक धब्बा भी दिखाई पड़ा है । बालि को छिपकर मारना । तुलसीदास और वाल्मीकि ने इस धब्बे पर लीपापोती करने का प्रयास किया है, लेकिन शुक्ल जी की दृष्टि में यह धब्बा ही रामचरित को उच्च आदर्श के अनुरूप एक कल्पना मात्र समझे जाने से बचाता है । एकमात्र यही धब्बा है, जो राम

को इस पृथ्वी का जीवन प्रमाणित करता है और सूचित करता है कि ईश्वरावतार राम हमारे बीच भाई-बन्धु बनकर आए थे और हमारे ही समान सुख दुख भोगकर चले गए ।

15.5 अभ्यास के प्रश्न

1. तुलसी संबंधी आचार्य शुक्ल के प्रबंध का हिन्दी आलोचना में क्या स्थान है ? इसे स्पष्ट करें ।
2. तुलसी का भावुकता रामचरितमानस के किन प्रसंगों में दिखाई पड़ती है ? विवेचन करें ।
3. तुलसी की काव्य-पद्धति की विशेषताओं के बारे में बताएँ ।
4. शील निरूपण और चरित्र-चित्रण में तुलसीदास की क्या विशेषता है ? इसका विवेचन करें ।
5. राम के चरित्र में कौन-सा धब्बा है ? उसका तात्पर्य शुक्ल जी ने किस रूप में ग्रहण किया है ? इसे स्पष्ट करें ।

हिन्दी नाटक : तात्त्विक विवेचन

पाठ संरचना

16.0 उद्देश्य
16.1 परिचय
16.2 मूल प्रवृत्तियाँ
16.3 मूल उद्देश्य और तत्त्व
16.4 अवस्थाएँ : अर्थ-प्रकृतियाँ और सन्धियाँ
16.5 कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन
16.6 देशकाल तथा वातावरण, उद्देश्य
16.7 शैली, अभिनय, रंगमंच
16.8 अभ्यास के प्रश्न

16.0 उद्देश्य

शास्त्रों और कलाओं की दृष्टि से भी नाटक का महत्त्व समस्त काव्यांगों से अधिक है । हिन्दी नाटक में नाट्यकला की दृष्टि से नाटक के विभिन्न तत्त्व विद्यमान होते हैं । इस इकाई का उद्देश्य नाटक के विभिन्न तत्त्वों से पाठक को परिचित कराना है ।

16.1 परिचय

"काव्येषु नाटक रम्यम् नाटकान्त कवित्वम्" संस्कृत के इस वाक्य के अनुसार नाटक काव्यकला का सर्वश्रेष्ठ अंग माना गया है । इसका कारण यह है कि नाटक की प्रभावोत्पादकता शक्ति वाङमय के अन्य अंगों को अपेक्षा अधिक स्थायी, गहरी और व्यापक होती है, क्योंकि उसमें हम वास्तविकता का, जीवन के यथार्थ का अनुभव करते हैं । नाटक हमारे यथार्थ जीवन से बड़े, गहरे रूप से सम्बद्ध रहता है । श्रव्य-काव्य अर्थात् पाठ्य-काव्य में शब्दों द्वारा सम्बद्ध रहता है । श्रव्य-काव्य अर्थात् पाठ्य-काव्य में शब्दों द्वारा कल्पना की सहायता से मानसिक चित्र उपस्थित किए जाते हैं, परन्तु दृश्य-काव्य में हमें कल्पना पर इतना बल नहीं देना पड़ता, वहाँ कल्पना की कमी को पात्रों की भाव-भंगी पूरी कर देती है । श्रव्य-काव्य में अमूर्त का विधान होता है और दृश्य काव्य में मूर्त का / साधारण बुद्धि के लिए मूर्त्त और प्रत्यक्ष जितना बोधगम्य होता है, उतना अमूर्त नहीं । इसलिए नाटक, साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा साधारण जनता के अधिक नजदीक होने के कारण उसकी अपनी चीज है । शास्त्रों और कलाओं की दृष्टि से भी नाटक का महत्त्व समस्त काव्यांगों से अधिक है । संसार में ऐसी कोई चीज नहीं है जिसका प्रदर्शन नाटक में न हो सके । नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि -

न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मम् यत्र दृश्यते ।

सर्व शास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधा नि च ।।

अर्थात् 'योग, कर्म, सम्पूर्ण, साहित्य, सारे शिल्प और संसार के विविध कार्यों में कोई ऐसा नहीं है जो नाटक में न दिखाया जा सके ।' साथ ही इसमें वास्तविकता का अनुकरण जीते-जागते साधनों द्वारा किया जाता है । इस प्रकार लोकहित तथा लोक-रंजन के उद्देश्य को लिए हुए, शिक्षित-अशिक्षित सब का समान रूप से मनोरंजन करनेवाला तथा विविध कलाओं से संयुक्त होने के कारण नाटक-साहित्य का एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अंग है ।

16.2 मूल प्रवृत्तियाँ

विद्वानों ने नाटक के मूल में अनुकरण की प्रवृत्ति को मानव की स्वभावगत प्रवृत्ति माना है । हम बचपन से दूसरों का, अपने बड़ों और समवयस्कों का अनुकरण करना आरंभ कर देते हैं । बच्चों के गुड्डे-गुड़िया के, राजा-रानी के खेल मदारियों द्वारा बन्दर-भालुओं के नाच आदि में इसी प्रवृत्ति का प्रकाशन होता है । नाटक में भी हम अपने पूर्व पुरुषों, देवी-देवताओं तथा समकालीन व्यक्तियों का अनुकरण करते हैं । अनुकरण के साथ ही नाटक के मूल में तीन मनोवृत्तियाँ और काम करती हैं । अनुकरण द्वारा मानव अपनी आत्मा का विस्तार देखना चाहता है । बच्चा अपनी संकुचित सीमाओं से ऊपर उठना चाहता है, इसलिए बड़ों का अनुकरण करता है । साथ ही नाटक द्वारा समाज के प्रत्येक वर्ग का व्यक्ति अन्य वर्ग के व्यक्तियों से परिचित हो जाता है । मजदूर राजा महाराजा मजदूर के जीवन को देख लेते हैं । इस प्रकार मानव-सभ्यता के सम्पूर्ण रूपों का वहाँ प्रदर्शन हो जाता है । इसमें मानव जाति की रक्षा का भाव भी सम्मिलित रहता है । इसमें हम अपनी जाति के भूत और वर्तमान को देखकर अनुप्राणित हो उठते हैं जो हमारे हृदय में जाति की रक्षा का भाव उत्पन्न करता है । इसके अतिरिक्त दूसरों के अनुकरण में एक प्रकार से हमारी आत्मा की अभिव्यक्ति भी हो जाती है । इसमें पात्र अभिनय द्वारा और दर्शक नाटक को देखकर अपने भावों को प्रकाशित करने का अवसर पा जाते हैं । इस प्रकार नाटक के मूल में मानव की चार मनोवृत्तियाँ काम करती रहती हैं -

(1) अनुकरण

(2) पारस्परिक परिचय द्वारा आत्मा का विस्तार

(3) जाति की रक्षा तथा

(4) आत्माभिव्यक्ति ।

16.3 मूल उद्देश्य और तत्त्व

कथा-साहित्य की भाँति नाटक का मूल उद्देश्य भी मनोरंजन ही है । प्रकारान्तर से चाहे यह उपदेश दे या किसी समस्या को सुलझाए, यह दूसरी बात है । नाट्याशास्त्र में भरत मुनि ने नाटक की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई, इस बात का विवेचन करते हुए लिखा है कि - "एक बार वैवस्वतु मनु के दूसरे युग में लोग बहुत दुखी हुए । इसपर इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने जाकर ब्रह्मा जी से प्रार्थना की, कि आप मनोविनोद का कोई ऐसा साधन उत्पन्न कीजिए जिससे सबका रंजन हो सके । इसपर ब्रह्माजी ने चारों वेदों को बुलाया और उनकी सहायता से पंचम् वेद 'नाटक की रचना की । इसके लिए उन्होंने ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से नाट्य और अथर्ववेद से रस लिया ।" उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि नाटक में - संवाद, गान, नाट्य और रस प्रधान तत्त्व है । साथ ही नाटक कथा

साहित्य का एक अंग है, इसलिए इसमें कथानक भी होता है और उस कथानक को आगे बढ़ाने वाले पात्र भी । इसमें इस कथानक के वर्णन की रीति भी उपन्यास-कहानी से भिन्न होती है । परन्तु फिर भी नाटकीय कथावस्तु और औपन्यासिक कथावस्तु के तत्त्वों में पर्याप्त समानता है । भारतीय प्राचीन आचार्यों ने नाटक के तीन प्रमुख तत्त्व माने हैं - वस्तु, नायक और रस । यूरोपीय विद्वानों ने इन तत्त्वों की संख्या छह मानी है । (1) कथावस्तु (2) पात्र, (3) कथोपकथन, (4) देशकाल, (5) उद्देश्य और (6) शैली । यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो ये छह तत्त्व भारतीय आचार्यों के उपर्युक्त तीन तत्त्वों में ही समाहित हो जाते हैं । भारतीय आचार्यों ने 'अभिनय' को भी एक तत्त्व माना है । कोई-कोई 'वृत्ति' को भी एक तत्त्व मानते हैं, परन्तु वृत्तियाँ क्रियाप्रधान शैलियाँ होने के कारण अभिनय के अन्तर्गत ही आ जाती हैं । यूरोप में रस को न मानकर उद्देश्य को प्रधानता दी जाती है, परन्तु हमारे यहाँ रसहीन नाटक का प्राण माना गया है । इसका कारण यह है कि रसानुभूति से हमारी आत्मा का परिष्कार और उदात्तीकरण होता है । आधुनिक हिन्दी नाटकों में प्रधान रूप से यूरोपीय शैली का अनुकरण किया गया है । यद्यपि इनपर भारतीय शैली का भी पर्याप्त प्रभाव है । इसलिए यूरोपीय विद्वानों द्वारा निर्धारित तत्त्वों के भारतीयकरण का विवेचन ही यहाँ अपेक्षित होगा, जो इस प्रकार है -

16.4 अवस्थाएँ : अर्थ-प्रकृतियाँ और संधियाँ

नाटकों में कार्य या व्यापार की दृष्टि से पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं (1) प्रारम्भ, इसमें किसी फल के लिए इच्छा होती है जिसे प्राप्त करने के लिए दो व्यक्तियों (नायक और प्रति नायक) के विभिन्न आदर्शों, उद्देश्यों, सिद्धान्तों आदि के कारण संघर्षमयी घटना का आरंभ होता है । (2) विकास, इसमें उस संघर्ष का विकास एक निश्चित सीमा तक बढ़ जाता है । इच्छा की पूर्ति का प्रयत्न होता है । (3) चरम सीमा - यहाँ तक संघर्ष अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है और एक पक्ष की विजय प्रारंभ होने लगती है और फल-प्राप्ति की सम्भावना दिखाई देने लगती है । (4) आतार यहाँ फल की प्राप्ति की सम्भावना में निश्चितता आ जाती है । यह वर्गीकरण योरोपीय विद्वानों का किया हुआ है । भारतीय प्राचीन आचार्यों का वर्गीकरण भी इसी प्रकार का है, केवल नाम का भेद है, जो उसी क्रम से इस प्रकार है : (1) प्रारंभ (2) प्रयत्न (3) प्राप्तयाशा (4) नियताप्ति और (5) फलागम । उक्त दोनों दृष्टिकोणों में कोई विशेष अंतर नहीं है, अन्तर केवल 'संघर्ष' के विषय में है । संघर्ष पाश्चात्य नाटकों का प्राण माना जाता है, जबकि हमारे यहाँ इसे कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया । प्राचीन अध्यात्म प्रधान आदर्शवादी नाटकों में इसका अभाव नहीं खटकता, परन्तु आज के संघर्षपूर्ण वातावरण में संघर्ष के अभाव में नाटक निष्प्राण रह जाएगा । इसलिए आज उसकी सबसे अधिक आवश्यकता है, क्योंकि पश्चिम के साथ घनिष्ठ संपर्क होने के कारण आज हमारे जीवनमान बदल रहे हैं और हम पाश्चात्य जीवन-पद्धति को क्रमशः अपनाते जा रहे हैं और इस जीवन पद्धति में संघर्ष पूरी तरह से व्याप्त है ।

अर्थ-प्रकृतियाँ और संधियाँ

उक्त अवस्थाओं की सहायता के लिए संस्कृत के आचार्यों ने पाँच अर्थ प्रकृतियाँ और पाँच सन्धियाँ और मानी हैं । कथानक को मान्य फल प्राप्ति की ओर अग्रसर करनेवाले चमत्कारपूर्ण अंश को 'अर्थ-प्रकृति' कहते हैं । ये पाँच मानी गई हैं । 1. बीच, 2. बिन्दु, 3. पताका, 4. प्रकरी, तथा 5. कार्य । अवस्थाओं (इन्हें कार्यावस्थाएँ भी कहते हैं) और अर्थ-प्रकृतियों में मेल कराने का कार्य 'संधियों' द्वारा सम्पन्न होता है । ये विभिन्न सन्धियाँ विभिन्न अवस्थाओं की समाप्ति तक चलती हैं । इनके अनुकूल अर्थ अवस्थाओं की समाप्ति तक चलती है । उनके अनुकूल अर्थ-प्रकृतियों

से उनका मेल कराती हैं । इनकी संख्या भी पाँच हैं : 1. मुख, 2. प्रतिमुख, 3. गर्भ, 4. अवमर्श या विमर्श, 5. निर्वहण या उपसंहार । इस प्रकार अर्थ-प्रकृतियाँ वस्तु के तत्त्वों से, अवस्थाएँ कार्य व्यापार से और संधियाँ रूपक रचना से संबंधित हैं । इनका पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार माना गया है ।

	अर्थ प्रकृति	अवस्था	संधि
1.	बीज	आरम्भ	मुख
2.	बिन्दु	प्रयत्न	प्रतिमुख
3.	पताका	प्राप्त्याशा	गर्भ
4.	प्रकरी	नियताप्ति	अवमर्श या विमर्श
5.	कार्य	फलागम	निर्वहण या उपसंहार

16.5 कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन

नाटक की कहानी को कथावस्तु या कथानक कहते हैं । नाटककार को अपनी कथावस्तु के चयन में उपन्यास लेखक के समान अधिक सामग्री का उपयोग करने का अधिकार नहीं होता । उसे अभिनय के लिए निश्चित समय का ध्यान रखते हुए एक निश्चित मर्यादा का पालन करते हुए चलना पड़ता है । उसकी कथावस्तु इतनी बड़ी होनी चाहिए जिसका तीन-चार घंटों में पूरा अभिनय हो सके । इसलिए नाटककार को कथानक की विस्तृत सामग्री में से अपने मतलब के तथ्य चुन लेने पड़ते हैं । कथावस्तु दो प्रकार की होती है - (1) अधिकारक अर्थात मुख्य कथा, और (2) प्रासंगिक अर्थात् प्रसंगवश आई हुई गौण कथाएँ । ये मुख्य कथा के विकास और सौन्दर्यवर्द्धन में सहायक होती हैं ।

प्रासंगिक कथावस्तु दो प्रकार की होती है - 'पताका' तथा 'प्रकरी' । मुख्य कथा के साथ-साथ अन्त तक चलनेवाली 'पताका', तथा बीच में समाप्त हो जानेवाली 'प्रकरी' कहलाती है । जैसे रामायण में राम की कथा के साथ-साथ अन्त तक चलने वाली सुग्रीव की कथा 'पताका' और शकुन्तला नाटक के छठे अंग में कंचुकी और दासियों का वार्तालाप 'प्रकरी' कही जाएगी । आधार के भेद से कथावस्तु के तीन प्रकार माने गए हैं - (1) प्रख्यात, जिसका आधार इतिहास, पुराण या जनश्रुति होती है; (2) उत्पाद्य, जो नाटककार की अपनी कल्पना होती है, (3) मिश्र, जिसमें इतिहास और कल्पना का मिश्रण होता है ।

कथावस्तु के भेद

इसी प्रकार कथावस्तु में भी दो भेद किए गए हैं - दृश्य या सूच्य । दृश्य में घटनाओं का रंगमंच पर अभिनय दिखाया जाता है । 'सूच्य' में रंगमंच पर घटित न होनेवाली घटनाओं की सूचना मात्र दे दी जाती है । 'सूच्य' कथावस्तु की सूचना देने वाले साधनों को अर्थोक्षेपक कहते हैं, जिनकी संख्या भी पाँच हैं : 1. विष्कम्भक, 2. चूलिका, 3. अंकास्य, 4. अंकावतार, और 5. प्रवेशक ।

उपर्युक्त अवस्थाओं, संधियों, अर्थ-प्रकृतियों तथा अर्थोक्षेपक आदि का उपयोग प्राचीन नाटकों में किया जाता था, परन्तु आज का नाटक सर्वथा स्वतंत्र रूप से विकसित हो रहा है । उसमें आजकल एक ही प्रधान कथा रहती है । आकार में भी वह छोटा होता है । प्राय: तीन अंकों में ही समाप्त हो जाता है, इसलिए उसमें कथावस्तु की विभिन्न

अवस्थाओं का तो निर्वाह हो सकता है, परन्तु संधियों और अर्थ-प्रकृतियों के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं रहा । इसी कारण हमने ऊपर अवस्थाओं का तो संक्षिप्त विवेचन दे दिया और संधियों, अर्थ-प्रकृतियों तथा अर्थोक्षेपकों का केवल उल्लेख करके छोड़ दिया है । आज जब उनकी कोई उपयोगिता ही नहीं रही तो उनका विवेचन भी व्यर्थ है ।

पात्र और चरित्र-चित्रण

नाटक में घटनाओं के आधार पर पात्र रहते हैं । प्रमुख पात्र 'नायक' कहलाता है । वह कथा का नेता होता है, जो कथा को फल की ओर अग्रसर करता है । वही फल-प्राप्ति का अधिकारी भी होता है । नायक की पत्नी या प्रेमिका 'नायिका' कहलाती है । हमारे यहाँ नायक को सर्वगुण संपन्न माना गया है । उसे विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रिय बोलनेवाला, लोकप्रिय, पवित्र, वाक्पटु, उच्चकुलोद्भव, युवा, बुद्धिमान, उत्साही, स्मृतियुक्त, प्रज्ञावान, कलावान, आत्म-सम्मानी, शूर, तेजस्वी, दृढ़, शास्त्रज्ञ और धार्मिक होना चाहिए । परन्तु नायक संबंधी आधुनिक दृष्टिकोण बदला हुआ है । आज नायक में उपर्युक्त गुणों का होना अनिवार्य नहीं माना जाता । साधारण से साधारण और बुरे से बुरा व्यक्ति भी आज नाटक का नायक बन सकता है और बन रहा है । नायिका भी नायक की पत्नी या प्रेमिका ही न होकर अन्य कोई भी प्रधान नारी-पात्री बन सकती है । कुछ नाटक नायक प्रधान न होकर नायिका प्रधान भी होते हैं ।

नायक के भेद

संस्कृत के आचार्यों ने नायक चार प्रकार के माने हैं : (1) धीरोदात्त - इसमें शक्ति, क्षमा, स्थिरता, दृढ़ता, गंभीरता, आत्मसम्मान तथा उदारता आदि गुण होने चाहिए; जैसे - राम । (2) धीर ललित - यह शृंगारप्रिय, सुखान्वेषी, कलाविज्ञ, कोमल और स्थिर चित्त वाला होता है । इसमें ललित गुणों की प्रधानता होने के कारण यह शृंगाररस प्रधान नाटक के लिए अधिक उपयुक्त होता है । जैसे - दुष्यन्त । (3) धीर प्रशांत - यह सन्तोषी, शान्तिप्रिय और सुखान्वेषी होता है । क्षत्रियों में ये गुण नहीं पाए जाते इसलिए ऐसा नायक ब्राह्मण या वैश्य होता है । जैसे - 'मालती माधव' का नायक 'माधव' । (4) धीरोद्धत - यह मायावी, आत्मप्रशंसा परायण, धोखेबाज और चपल होता है; जैसे - रावण । दुर्गुणों के कारण कुछ आचार्य ऐसे व्यक्तियों को नायक नहीं मानते ।

नायिकाओं के भेद

नायिका में भी नायक के से ही गुण होने चाहिए । इसके आठ प्रधान गुण माने जाते हैं । जैसे -

"जा कामिनि वे देखिए पूरन आठौ अंग ।
ताहि बखाने नायिका त्रिभुवन मोहन रंग ।।
पहिले जोबन, रूप, गुन, सील, प्रेम पहिचान ।
कुल वैभव, भूषण बहुरि, आठों अंग बखान ।।"

भरत मुनि ने चार प्रकार की नायिकाएँ मानी हैं : (1) दिव्या, (2) नृपति-नीर, (3) कुल स्त्री तथा (4) गणिका । परन्तु आधुनिक विवेचक तीन प्रकार की नायिकाएँ मानते हैं - (1) स्वकीया - यह नायक की विवाहित पत्नी होती है । (2) परकीया - यह नायक की विवाहिता न होकर दूसरे की पत्नी या अविवाहिता भी हो सकती है । (3) सामान्या - इसे गणिका या वेश्या भी कहते हैं । ये भेद मध्यकाल में भी माने जाते रहे थे । आज के नाटकों में यह आवश्यक नहीं है कि नायिका नायक की पत्नी या प्रिया ही हो । नाटक की कोई भी प्रमुख स्त्री-पात्र नायिका

मानी जा सकती है । नायक का विरोधी पात्र प्रतिनायक या खलनायक कहलाता है । प्रासंगिक कथावस्तु का नायक, जो प्रमुख नायक का सहायक होता है, 'पीठमर्द' कहलाता है । इसके अतिरिक्त विदूषक, विट और चेट भी प्रमुख पात्र होते हैं । संस्कृत नाटकों में 'विदूषक' का होना अनिवार्य माना जाता था, परन्तु आज नहीं माना जाता । 'चेट' नायक का अनुचर होता है । 'विट' वाद्यगायन में निपुण नायक का अन्तरंग सेवक होता है । परन्तु आधुनिक नाटकों में उक्त विभिन्न प्रकार के पात्रों का होना अनिवार्य नहीं माना जाता । फिर भी किसी-न-किसी रूप में ये पात्र भी नाटकों में अपना स्थान बनाए हुए हैं ।

चरित्र-चित्रण - नाटकों में भी चरित्र-चित्रण उपन्यास की ही तरह होता है । पात्रों की मानसिक और भावात्मक परिस्थितियों के चित्रण द्वारा उनकी आन्तरिक और बाह्य वृत्तियों को प्रकाशित किया जाता है । परन्तु उपन्यासकार की भाँति नाटककार विश्लेषणात्मक या प्रत्यक्ष रूप से चरित्र-चित्रण नहीं कर सकता । उसे परोक्ष या अभिनयात्मक ढंग से काम लेना पड़ता है । वह पात्रों के विषय में स्वयं कुछ न कहकर या तो नाटक के एक पात्र से दूसरे पात्र के चरित्र पर प्रकाश डलवाता है या कोई पात्र कार्य, संवाद, भाव-मुद्रा आदि द्वारा स्वयं अपने चरित्र का उद्‌घाटन करता है । कथावस्तु, घटनाओं और कथोपकथनों द्वारा नाटकीय पात्रों के चरित्र का उद्‌घाटन होता है । प्रमुख रूप से इस चरित्र-चित्रण के तीन प्रकार माने गए हैं -

(1) कथोपकथन द्वारा - पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप द्वारा हम उनके चरित्रों की विशेषताओं का अनुमान लगा सकते हैं ।

(2) स्वगत कथन द्वारा - यह यद्यपि आजकल अस्वाभाविक माने जाने लगा है, परन्तु चरित्र-चित्रण का यह एक उत्कृष्ट प्रकार है । जब कोई पात्र एकान्त में स्वयं कुछ सोचता है और अपने विचारों को व्यक्त करता है, तब उसकी चारित्रिक विशेषताएँ प्रत्यक्ष हो उठती हैं । यह एक प्रकार से उसकी आत्म-स्वीकृति होती है । आन्तरिक संघर्ष का, अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण तो स्वगत-कथन द्वारा ही संभव होता है ।

(3) कार्यकलाप द्वारा - मनुष्य के कर्म उसके चरित्र के सबसे अच्छे परिचायक होते हैं । मनुष्य के अच्छे-बुरे होने का अनुमान हम उसके कार्यों द्वारा ही लगा पाते हैं ।

कथोपकथन

कथाक्रम के विकास और चरित्र-चित्रण के लिए कथोपकथन की अनिवार्य उपयोगिता मानी जाती है । कथोपकथन की सफलता पर एक प्रकार से नाटक की सफलता निर्भर रहती है । उसमें नाटकीय वस्तु का विकास इसके द्वारा सम्पन्न होता है । नाटकीय लाघव (Dramatic Economy) लाने के लिए कथोपकथन छोटा ही न हो, वरन् ऐसा भी हो जो चरित्र पर प्रकाश डाल सके । इसलिए नाटक में निरर्थक वार्तालाप के लिए कोई स्थान नहीं रहता । चरित्र-चित्रण में कथोपकथन का महत्त्व ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है । इसके लिए यह आवश्यक है कि कथोपकथन लम्बे और अस्वाभाविक न होकर पात्रों की परिस्थितियों के अनुकूल हों । साथ ही कथोपकथन अभिनय के भी उपयुक्त होने चाहिए, क्योंकि उनका अभिनय से घनिष्ठ संबंध है । हमारे यहाँ आचार्यों ने कथोपकथन के तीन प्रकार माने हैं - (1) नियत श्राव्य - इसमें रंगमंच पर उपस्थित प्रत्येक पात्र के सम्मुख बात न कर कुछ निश्चित पात्रों से की जाती है । (2) सर्व श्राव्य - इसे प्रकट या प्रकाश्य भी कहते हैं । यह सबके सुनने के लिए होता है । (3) अश्राव्य - यह रंगमंच पर उपस्थित किसी भी पात्र द्वारा न सुना जाकर, केवल दर्शकों द्वारा ही सुना जाता है । इसे स्वगत-कथन या स्वगत-भाषण भी कहते हैं । आज स्वगत-कथन को अनुचित माना जाने लगा है, परन्तु नाटक में

इसकी उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । साधारण रूप से जब कोई व्यक्ति अपने आप बोलने लगता है तो अस्वाभाविक लगता है, परन्तु नाटक के पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को प्रकाशित करने के लिए नाटककार के पास इसके अतिरिक्त और कोई उपयुक्त साधन नहीं रह जाता । फिर भी स्वगत कथन में एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह लम्बा न होकर संक्षिप्त हो । आकाश भाषित भी एक प्रकार का स्वगत-कथन ही है । इसमें पात्र आकाश की ओर देखकर इस प्रकार बात करता है - मानों कोई व्यक्ति ऊपर बैठा हुआ उसकी बात सुन रहा हो और उत्तर दे रहा हो । आजकल स्वगत-कथन का तो उपयोग किया जाता है, मगर आकाश-भाषित को नितान्त अस्वाभाविक मान बिलकुल उड़ा दिया गया है । यूरोपीय नाटकों में 'स्वगत' को हटाकर एक नया साधन अपनाया गया है । इसके अनुसार बोलने वाले पात्र के एक नवीन अंतरंग मित्र की अवधारणा की जाती है जिससे वह अपने मन के सम्पूर्ण भेदभाव और विचार निस्संकोच होकर व्यक्त कर देता है ।

16.6 देशकाल तथा वातावरण संकलन त्रय

उपन्यास की भाँति नाटक में भी देशकाल तथा वातावरण का चित्रण उपयुक्त, पूर्ण हृदयग्राही होना चाहिए । इसमें पात्रों के व्यक्तित्व में स्पष्टता और वास्तविकता आ जाती है । इसलिए प्रत्येक युग, प्रत्येक देश तथा वातावरण का चित्रण उसकी संस्कृति, सभ्यता, रीति-रिवाज, रहन-सहन और वेश-भूषा के अनुरूप होना चाहिए । परन्तु इस चित्रण में रंगमंच को सुविधाओं और सीमित स्थान का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है । प्राचीन ग्रीक आचार्यों ने नाटक में देश तथा काल की समस्या पर विचार कर, 'संकलन त्रय' का विधान किया था । इसके अनुसार स्थल, कार्य तथा काल की एकता पर विशेष ध्यान देना पड़ता था । उनका मत था कि किसी नाटक में घटित घटना किसी एक ही कृत्य से, एक ही स्थान से सम्बन्धित हो, और एक ही दिन में घटी हो । परन्तु आज इस सिद्धान्त का पालन नहीं किया जाता । वर्तमान एकांकियों में अवश्य कुछ सीमा तक इसका पालन हो रहा है । देशकाल और वातावरण का चित्रण नाटक की कथा को अधिक विश्वसनीय बना देता है ।

उद्देश्य

नाटक के उद्देश्य के विषय में भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर है । भारतीय आचार्यों ने नाटक में रस को प्रमुखता देते हुए ही रस-सिद्धान्त की स्थापना की थी । संस्कृत के नाटकों में कोई-न-कोई रस अंगी (प्रधान) रूप से रहता है, उसके साथ दूसरे रस भी अंग (सहायक) रूप से विद्यमान रहते हैं । उनमें रसों का समावेश 'रस-मैत्री' और 'रस-विरोध' के नियमों के आधार पर किया गया है । हमारा देश आदर्शोन्मुख यथार्थवादी रहा है । अतः यहाँ साहित्य की रचना सदैव सोद्देश्य रही है । धर्म, अर्थ और काम - जीवन के तीन प्रत्यक्ष उद्देश्य माने गए हैं, अतः यहाँ नाटक द्वारा इन तीनों की या इनमें से किसी एक की प्राप्ति को नाटक का उद्देश्य माना गया है । पाश्चात्य नाटकों में भी व्यक्त या अव्यक्त रूप से कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य रहता है । वह किसी प्रकार की जीवन-मीमांसा या विचार सामग्री के रूप में आता है । आन्तरिक और बाह्य संघर्ष द्वारा ही दर्शक या पाठक उस उद्देश्य को समझने में सफल होते हैं । उद्देश्य की प्राप्ति के साथ संघर्ष का शमन हो जाता है । नाटककार द्वारा ही व्यक्त होता है । इसलिए इसमें एक अस्पष्टता रहती है । अनेक बार उद्देश्य कथानक में ही व्यंजित हो जाता है । परन्तु अक्सर नाटककार अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति किसी विशिष्ट पात्र के माध्यम द्वारा ही करता है । हम नाटककार का वास्तविक उद्देश्य भली प्रकार तभी जान सकते हैं, जब पात्रों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन कर नाटककार के असली विचारों को समझ सकें । नाटककार द्वारा अभिव्यक्त उद्देश्य से हमें निम्नलिखित बातों का ज्ञान होता है -

(1) नाटककार हमारे सम्मुख किस नैतिक आदर्श को उपस्थित करता है ? उसका जीवन संबंधी दृष्टिकोण क्या है ? नाटक में अभिव्यक्त उद्देश्य हमारे जीवन को किस रूप में प्रभावित करता है ?

(2) नाटककार द्वारा चित्रित आदर्श हमारे सामने उसके द्वारा वर्णित तथा समाज के नैतिक तथा सामाजिक आदर्शों को प्रस्तुत करते हैं । इससे हमें यह मालूम हो जाता है कि उसक द्वारा वर्णित देश नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से कितना उन्नत अथवा कितना पतित है ।

(3) नाटककार द्वारा अभिव्यक्त उद्देश्य से हमें यह ज्ञात हो जाता है कि वह जीवन के प्रति आदर्शवादी दृष्टिकोण रखता है अथवा यथार्थवादी ? उसमें निराशा का आधिक्य है अथवा आशा का ?

16.7 शैली, अभिनय, रंगमंच

नाटक की शैली में भी साहित्य के अंगों के लिए अपेक्षित शैली का ध्यान रखना पड़ता है । कथोपकथन की शैली ही नाटक की प्रधान शैली है । शैली को नाटक में 'नाट्यमातर' अर्थात् नाटक की माताएँ कहा गया है । ये चार प्रकार की होती हैं –

(1) कौशिकी वृत्ति – इसका संबंध शृंगार और हास्य से है । इसमें गीति–नृत्य को बहुलता रहती है । गायन–प्रधान होने के कारण इसकी उत्पत्ति सामवेद से मानी गई है । (2) सात्त्विक वृत्ति – इसका संबंध शौर्य, दन, दया आदि से है । यह आनन्द को बढ़ाती है । इसमें वीर, रौद्र और अद्‌भुत रस का समावेश रहता है । इसकी उत्पत्ति यजुर्वेद से मानी गई है । (3) आरभटी वृत्ति – इसमें माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, संघर्ष आदि द्वारा रस की उत्पत्ति की जाती है । इसकी उत्पत्ति अथर्ववेद से मानी गई है । (4) भारती वृत्ति – इसका संबंध स्त्रियों से न होकर, केवल पुरुषों से होता है । इसका संबंध शब्दों से तथा प्रायः सब रसों से रहता है तथा इसकी उत्पत्ति ऋग्वेद से बताई गई है । ये चारों वृत्तियाँ पात्रों के कथोपकथन में स्वतः अभिव्यक्त होती हैं । दरअसल नाटक की सफलता के लिए उनमें नाटकीयता, संक्षिप्तता, सांकेतिकता, सरलता आदि उत्पन्न करने में शैलियाँ बहुत सहायक होती हैं ।

उक्त विवेचन के उपरान्त नाटक के अभिनय और रंगमंच का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना भी आवश्यक है, क्योंकि इन दोनों के अभाव में नाटक का अस्तित्व पूर्ण सफल नहीं माना जा सकता है ।

अभिनय

भारतीय आचार्यों के अनुसार 'अभिनय' नाटक का प्रमुख अंग है । दूसरों के अनुकरण को 'अभिनय' कहा जाता है । इसके साथ नाटक का उदय हुआ है । यह नाटक की अभिव्यक्ति का प्रधान साधन है । भरत मुनि ने अभिनय के चार प्रकार माने हैं – (1) आंगिक – इसमें शरीर के विभिन्न अंगों के संचालन द्वारा भाव और कार्य प्रकट किए जाते हैं । यह तीन प्रकार का माना गया है – (क) शरीरज (ख) मुखज, और (ग) चेष्टाकृत । (2) वाचिक – इसका संबंध वाणी से होता है । इसके द्वारा आंगिक अभिनय को स्पष्टता प्रदान की जाती है । इसके लिए स्वरशास्त्र, व्याकरण, छन्दशास्त्र, बोलने और पाठ करने को विधियों आदि का ज्ञान आवश्यक बताया गया है । अभिनय के इस भेद के कारण ही हमारे यहाँ कथोपकथन संबंधी सब निर्देश वाचिक अभिनय में आ जाते हैं । (3) आहार्य – इसमें वेशभूषा, आभूषण, वस्त्र तथा विभिन्न प्रकार की साज–सज्जा का उल्लेख रहता है । इसके अनुसार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, देवता तथा सम्पन्न आदि व्यक्ति गौरवर्ण के होते थे । साथ ही राजा–महाराजा मुकुटधारी और विदूषक गंजे हुआ करते

थे। (4) सात्त्विक - इसमें स्वेद, रोमांच, कम्प, स्तंभ और अश्रु आदि द्वारा सात्विक भावों का प्रदर्शन किया जाता था। इसका संबंध भावों से है। साधारण आंगिक अभिनय से इसमें यही अन्तर है कि उसमें गतियों का अभिनय हो सकता है, परन्तु सात्त्विक में केवल भावों का ही।

आज के हिन्दी नाटक में संस्कृत अथवा पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र के प्राचीन नियमों का यथावत् पालन नहीं किया जाता। हमारा आधुनिक नाटक इन दोनों नाट्यशास्त्रों के उपयोगी तत्त्वों का आँकलन और समन्वय कर अपना मौलिक रूप विकसित करने में समर्थ हुआ है। आजकल नाट्य रचना और रंगमंच - दोनों के ही समन्वित विकास के प्रति पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है। आज नाट्यशास्त्र संबंधी सम्पूर्ण प्राचीन रूढ़ियों से मुक्ति पाकर हिन्दी-नाटक नवयुग की नई परिस्थिति और परिवेश के अनुरूप विकसित हो रहा है। इसलिए हमें इसके मार्गदर्शन के लिए एक सर्वथा नवीन नाट्यशास्त्र की रचना करनी होगी ताकि हिन्दी नाटक का आगे विकास हो सके।

रंगमंच

नाटक की सार्थकता उसके अभिनीत होने में ही है, यद्यपि कुछ नाटक केवल पढ़ने के लिए ही होते हैं; जैसे - प्रसाद के अधिकांश नाटक। भरत मुनि ने नाटकों को अभिनीत करने के लिए रंगमंचों का विशद् विवेचन किया है। प्राचीनकाल में संस्कृत-नाटकों का अभिनय होता था, इसलिए रंगमंच की सुचारू व्यवस्था थी। रंगमंच की लंबाई, चौड़ाई, ऊँचाई आदि की सीमाएँ निश्चित थीं। परन्तु प्राचीन हिन्दी में नाटकों का अभाव होने के कारण रंगमंच का कोई विकास नहीं हो पाया। आधुनिक काल में आकर जब नाटकों की रचना प्रारंभ हुई तो रंगमंच की ओर लोगों का ध्यान गया। पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों का रंगमंच अत्यन्त निम्न कोटि का और अव्यवस्थित था। भारतेन्दु ने उसमें कुछ सुधार किया है। कुछ समय तक इसका विकास हुआ, परन्तु बहुत थोड़े रूप में। उसे पूर्णता प्राप्त न हो सकी। सिनेमा के आविष्कार ने तो उसे प्रायः समाप्त-सा ही कर दिया है। इधर एकांकियों के प्रचलन से पुनः रंगमंच की उन्नति की ओर हिन्दी-संसार का ध्यान गया। रंगमंचीय असुविधा, दर्शकों की रुचि आदि के अनुसार प्राचीन नाट्यशास्त्रों में कुछ दृश्यों को रंगमंच पर प्रस्तुत करने की मनाही थी। हत्या, युद्ध, विपल्व, भोज, मृत्यु, रति-क्रीड़ा, चुम्बन, स्नान आदि ऐसे ही दृश्य थे। परन्तु आधुनिक नाटकों में इस बन्धन को स्वीकार नहीं किया जाता। ये बन्धन इसलिए लगाए गए थे जिससे रंगमंच की शालीनता सुरक्षित रहे और दर्शकों के हृदय में तीव्र उद्वेग उत्पन्न न हो।

16.8 अभ्यास के प्रश्न

1. नाटक के मूल उद्देश्यों एवं तत्त्वों का विवेचन कीजिए।
2. नाटक के विभिन्न तत्त्वों का विवेचन कीजिए।
3. नाटक की अवस्थाएँ एवं अर्थ प्रकृतियों का उल्लेख कीजिए।

हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास

पाठ संरचना

17.0 उद्देश्य
17.1 परिचय
17.2 उत्पत्ति
17.3 प्राचीनतम नाट्यकला
17.4 उत्पत्ति संबंधी दो मत
17.5 विकास न होने के कारण : विभिन्न मत
17.6 हिन्दी नाटकों का विकास
17.7 पारसी थियेटर
17.8 मैथिली नाटक
17.9 रास लीला नाटकों का विकास
17.10 पद्यबद्ध नाटक
17.11 भारतेन्दुयुगीन नाटक
17.12 प्रसादयुगीन नाटक
17.13 प्रसाद-युगेत्तर नाटक
17.14 अभ्यास के प्रश्न

17.0 उद्देश्य

हिन्दी नाटक के उद्‌भव के संबंध में भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में एक घटना का उल्लेख किया है । उनके कथनानुसार देवताओं के प्रार्थना करने पर ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर पाँचवे वेद के रूप में नाट्य-वेद की रचना की । इसके लिए शिव जी ने ताण्डव नृत्य दिया और पार्वती जी ने लास्य प्रदान किया । अत: आश्चर्य नहीं यदि भारत में नाट्यकला का उदय भी उत्तरवैदिक युग से पूर्व हो गया हो । इस इकाई का उद्देश्य नाटक के उद्‌भव और विकास से पाठक को परिचित कराना है ।

17.1 परिचय

कुछ वर्षों तक हिन्दी में नाट्य-साहित्य का उद्‌भव 19वीं शती में माना जाता रहा, किन्तु अब डॉ० दशरथ ओझा ने अपने महत्त्वपूर्ण अनुसंधान के द्वारा तेरहवीं शताब्दी से ही इसका उद्‌भव सिद्ध कर दिया है । उनके मतानुसार हिन्दी का सर्वप्रथम उपलब्ध नाटक 'गय-सुकुमार-रास' है, जो संवत् 1289 वि० में रचित हुआ था । उनका कथन

है कि ''इस रास में रास के सभी तत्त्व विद्यमान है । ''इसकी भाषा पर राजस्थानी हिन्दी का प्रभुत्व स्वीकार किया गया है । आगे चलकर रास के तीन रूप हो गए । पहला रूप तो नाट्य-रासक का ही रहा, जो गय-सुकुमार रास भरतेश्वर, बाहुबलीरास आदि में बताया गया है । दूसरा रूप धार्मिक महापुरुषों के चरित्रकाव्य के रूप में विकसित हुआ जिनमें से नृत्य और नाट्य का अंश क्रमशः लोप होने लगा । रास का तीसरा रूप रासो है, जो किसी राजा की पूरी जीवनगाथा को लेकर विरचित होता रहा । ''डॉ० ओझाजी के इस वर्गीकरण से स्पष्ट है कि रास के अन्तिम दो रूपों में तो अभिनेयता का सर्वथा अभाव ही है, किन्तु उन्होंने प्रथम वर्ग में आनेवाली रचनाओं 'गद्य-सुकुमार-रास' व 'भरतेश्वर बाहुबली रास' का विवेचन इतने चलताऊ ढंग से किया है कि जिससे यह सिद्ध नहीं होता कि ये दोनों ग्रंथ भी मूलतः नाट्य-रासक है । 'गद्य-सुकुमार-रास' का जो थोड़ा सा परिचय दिया गया है, उससे उसके पात्रों के नाम व कथावस्तु का संकेत मात्र मिलता है, उसके नाटकीय तत्त्वों पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता । अतः इसे हिन्दी का आदि नाटक कहना संदेहास्पद है ।

17.2 उत्पत्ति

नाटकों की उत्पत्ति के संबंध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं । डॉक्टर रिजवे नाटकों की उत्पत्ति के मूल में मृतक वीरों की पूजा को ही मानते हैं । उनके अनुसार महान मृतात्माओं के महत्त्व तथा उनके प्रति अपना आदर भाव प्रकट करने के लिए नाटक अभिनीत किए जाते थे । यह कथन आंशिक रूप से सत्य है । यदि इसे पूर्णरूप से सत्य मान लिया जाए तो नाटक की सीमाओं को बहुत संकुचित कर देना पड़ेगा । डॉक्टर पिसेल कठपुतलियों के बीच से नाटकों की उत्पत्ति मानते हैं । 'सूत्र-धार', 'स्थापक' आदि शब्दों द्वारा इस बात की पुष्टि होती है । कठपुतलियों का उल्लेख वृहत्कथा, बाल-रामायण तथा महाभारत आदि से मिलता है । कठपुतलियों का खेल भी तो एक प्रकार में नाटक ही होता है । उसमें पात्रों का स्थान केवल कठपुतलियाँ ले लेती हैं, यही अन्तर है । इसलिए कठपुतलियों के खेल का आविष्कार प्राचीन नाटक के किसी-न-किसी रूप से ही हुआ होगा, ऐसा हमारा अनुमान है । अनेक भारतीय तथा पश्चिमी विद्वान नाटक की उत्पत्ति वेद से मानते हैं । वेदों में आए कुछ संवादों को नाटक का मूल रूप माना जा सकता है । हमारे यहाँ वाल्मीकि रामायण, हरिवंश पुराण आदि प्राचीन ग्रंथों में भी नाटकों का उल्लेख आता है । इससे यह सिद्ध होता है कि हमारा नाट्य-साहित्य अत्यन्त प्राचीन नाट्य साहित्य है ।

भारतीय नाट्य कला की उन्नति के विषय में अनेक विदेशियों की यह भी धारणा है कि यह यूनानी नाट्यकला की नकल है या उससे प्रभावित है । इस विचारधारा के लोग 'यवनिका', 'यवनी' और 'शकारि' आदि शब्दों के आधार पर यह कह सकते हैं कि इन शब्दों पर यूनान का प्रभाव है । लेकिन 'यवनिका' की व्युत्पत्ति 'युगिभ्रमणों' के अर्थ में और 'यवनिका' की 'जवाच्छादेन' के अर्थ में पाई जाती है । प्रसाद जी ने जवनिका को मूल शब्द माना है । 'जब' का अर्थ है - 'त्वरा' । जो त्वरापूर्वक उठाया या गिराया जाए वह है 'जवनिका' । 'यवनिका' इसी से बना है । कुछ लोगों ने 'जवनिका' को अशुद्ध या तद्‌भव शब्द मान उसका तत्सम रूप विशेष रूप से ब्रजभाषा में संस्कृत का 'य' अक्षर 'ज' बन जाता है जैसे 'यज्ञ' से 'जग्य' । दूसरी बात यह है कि यूनानी नाटकों में 'जवनिका' । (ड्राप सीन) होती ही नहीं । 'यवनी' और 'शकारि' पर भी यूनानी प्रभाव नहीं है । तीसरी बात यह है कि भारतीय और यूनानी नाटकों के तत्त्वों में भी पर्याप्त अन्तर है । यूनानी नाटक दुःखान्त होते हैं, जबकि हमारे नाटक सुखान्त हैं । यूनानी नाटकों में केवल चरित्र-चित्रण की प्रधानता रहती है, जबकि हमारे यहाँ प्रकृत्रि-चित्रण और रस की प्रधानता है । यूनानी नाटक बहुधा खुले हुए मैदानों में खेले जाते थे और ऐसे अखाड़ों आदि के मध्य में होते थे, जिनमें और भी

अनेक प्रकार के खेल-तमाशे होते थे, जबकि भारतीय नाटकों का अभिनय विशेष प्रकार के प्रेक्षागृहों में होता था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय नाट्यकला - भारतीय मनीषियों के स्वतंत्र चिन्तन की उत्पत्ति है न कि यूनानी नाट्यकला से प्रभावित।

17.3 प्राचीनतम नाट्य कला

साथ ही हमारी नाट्यकला संसार की प्राचीनतम नाट्यकला है। भरत मुनि के अनुसार स्वयं ब्रह्मा ने इसकी रचना कर इसे 'पंचम वेद' माना था, क्योंकि इसके द्वारा शूद्रों के मनोरंजन का भी विधान किया गया था। भरत मुनि के नाट्य शास्त्र से भी पूर्व नाटकों का उल्लेख मिलता है। किसी भी शास्त्र की रचना तब की जाती है जब उसके लक्ष्य-ग्रन्थ पहले से मौजूद रहते हैं। इसीलिए यह स्वत: सिद्ध है कि भरत के 'नाट्यशास्त्र' की रचना से पूर्व भारत में प्रचुर मात्रा में नाटकों का प्रणयन हो चुका था। तभी भरत को अपने इस शास्त्रीय ग्रंथ की रचना करनी पड़ी। लक्ष्य ग्रंथों के निर्माण के उपरांत ही लक्षण ग्रंथों का निर्माण होता है। आचार्य पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में जिसका रचनाकाल 800 ई० पू० माना जाता है। 'कृष्णाश्व' और 'शिलालिन' नामक दो नाटककारों का उल्लेख मिलता है। महाभारत के कुछ काल बाद रचित 'हरिवंशपुराण' में लिखा है कि 'व्रजनाभ' नगर में 'रामजन्म' और 'कौबेरारम्भभिसार' नामक नाटकों का सफल अभिनय हुआ। ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग 'भास' ने 'स्वप्नवासवदत्ता' आदि 13 नाटक लिखे। इसी समय के आसपास कालिदास ने नाट्यकला को चरम विकास पर पहुँचा दिया। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि भारतीय नाट्यकला अत्यंत प्राचीन और मौलिक है। यह संभव है कि यूनानियों के भारत आने पर यूनानी और और भारतीय नाट्यकलाओं में परस्पर संपर्क और समन्वय स्थापित हुआ हो। फिर भी प्राचीन भारतीय नाट्यकला रूप और संवेदना में यूनानी नाट्यकला से भिन्न रही है।

17.4 उत्पत्ति संबंधी दो मत

नाटकों की उत्पत्ति के संबंध में मुख्यतया दो मत ठहरते हैं। पहला यह कि भारत में नाटकों का उदय धार्मिक कृत्यों से हुआ, और दूसरा यह कि उनका उदय लौकिक और सामाजिक कृत्यों से हुआ। यह विदेशी विद्वानों की धारणा है। परन्तु यह भेद करते समय वे यह भूल जाते हैं कि हमारे यहाँ धार्मिक, सामाजिक और लौकिक कृत्यों में कभी कोई भेद नहीं रहा है। यहाँ एक के बिना दूसरे की स्थिति असम्भव रही है। भारत में धर्म मानव-जीवन का अभिन्न अंग रहा है, इसलिए जीवन में आनन्द के जितने भी साधन हैं उनका मूल धर्म में ही है। नाटक की रचना के मूल में धर्म, अर्थ और कार्य की सिद्धि ही प्रधान उद्देश्य माना गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय नाटकों का उदय वैदिक कर्मकाण्ड तथा धार्मिक और सामाजिक उत्सवों पर होनेवाले अभिनयात्मक नृत्य, संवाद आदि से हुआ। बाद में रामायण, महाभारत आदि काव्यग्रंथों से उसे अन्य सामग्री मिली जिससे उसका रूप पूर्ण हो गया जिनका विकास आगे चलकर संस्कृत नाटकों में मिलता है। परन्तु संस्कृत नाटकों की यह परंपरा हिन्दी में विकास नहीं पा सकी। बीच में सैंकड़ों वर्षों के लिए उसका प्रवाह रूक गया। हिन्दी-साहित्य में सोलहवीं सदी से पूर्व एक भी नाटक नहीं लिखा गया।

17.5 विकास न होने के कारण : विभिन्न मत

गद्य की अन्य विधाओं के समान वर्तमान हिन्दी नाटक साहित्य का विकास भी भारतेन्दु युग से ही माना जाता

है । भारतेन्दु से पूर्व कुल मिलाकर हिन्दी में एक दर्जन भी नाटक नहीं मिलते और जो हैं भी, उनमें वार्तालाप प्रवेश और संस्थान के अतिरिक्त नाटक का कोई भी प्रधान लक्षण नहीं मिलता । यद्यपि हिन्दी को संस्कृत और प्राकृत नाटकों की अमूल्य पैतृक सम्पदा प्राप्त थी, तथापि हिन्दी के साहित्यकार 19वीं शताब्दी से पूर्व उसका यथेष्ट उपयोग न कर सके । इसके कई कारण थे । कुछ विद्वानों का मत है कि हमारे यहाँ कोई राष्ट्रीय रंगमंच नहीं था । अन्य लोग नाटक का अभाव गद्य साहित्य के अभाव और हीनता के कारण भी मानते हैं । हिन्दी का गद्य न के बराबर था और नाटकों में गद्य की प्रधानता आवश्यक होती है । तीसरा मत यह है कि मुसलमान शासकों ने नाटकों को नहीं पनपने दिया, क्योंकि इस्लाम में किसी की नकल उतारना पाप माना गया है । परन्तु ये तीन कारण प्रधान न होकर गौण कारण हैं । मुसलमानी शासन में हिन्दुओं ने अपने सुन्दर राज-प्रासादों, मन्दिरों आदि का निर्माण किया था । यदि वे चाहते तो राष्ट्रीय रंगमंच का भी निर्माण कर सकते थे । 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्त्ता' तथा निरंजनी जी के 'योग-वशिष्ठ' आदि गद्य-ग्रंथों में प्रयुक्त गद्य का विकास किया जा सकता था । मुस्लिम शासकों में औरंगजेब को छोड़कर अन्य कोई भी शासक इतनी संकीर्ण धार्मिक बुद्धि का नहीं था, जो नाटक के विकास में बाधा डालता । हिन्दी का प्रथम अभिनीत नाटक 'इन्दर-सभा' लखनऊ के एक मुसलमान शासक - नवाब वाजिद अली शाह की अभिभावकता में लिखा और खेला गया था । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि हिन्दी में नाट्य साहित्य का विकास न होने के कारण इनसे भिन्न थे ।

मूल कारण

हिन्दी में नाटक-साहित्य का विकास न होने के कारणों में सर्वप्रमुख कारण यह था कि ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी के पश्चात् संस्कृत नाटकों का स्तर बहुत गिर गया था । मौलिकता और परम्परा निर्वाह की दृष्टि से यह काल अत्यन्त दरिद्र माना जाता है । इस काल के प्रमुख संस्कृत नाटककारों मुरारि, राजशेखर, जयदेव आदि के नाटकों में नाटकीय तत्त्वों का पूर्ण अभाव रहा । इनके सभी नाटकों में शिथिल कथानक, वर्णनात्मक कविताओं और प्रगीत मुक्तकों की भरमार है । वे नाटक चरित्र, संवाद, अन्तर्द्वन्द्व आदि सभी दृष्टियों से खोखले हैं । हिन्दी को संस्कृत नाटकों की यह छिछली परम्परा विरासत के रूप में मिली थी । इसी कारण बनारसीदास का 'समय-सार (सं० 1693), प्राणचन्द चौहान का 'रामायण महानाटक' (सं० 1667), रघुराय नागर का 'सभासार' (सं० 1757) और लच्छिम का 'करुणाभरण' (सं० 1772) आदि सभी नाटक प्रायः छन्दोबद्ध हैं । इसका दूसरा कारण यह था कि सन्तों की निराशामूलक वाणी के कारण नाट्य-सृजन की प्रेरणा कुण्ठित हो गई थी । सभी सन्तों ने एक स्वर से यह स्वीकार किया था कि संसार में केवल दुख ही दुख है । इस दुखवाद की प्रधानता के कारण ऐहिक जीवन के प्रति उत्साह समाप्त हो गया था । नाटक प्रगतिशील जीवन का चित्र है, अजगर की भाँति आलस्य का जीवन बितानेवालों के जीवन का नहीं । अतः ऐसी दशा में नाटकों से क्या आशा की जा सकती थी । तीसरा कारण यह था कि हिन्दी का प्रारंभिक काल मारकाट से परिपूर्ण क्षुब्ध वातावरण का काल था । इस अशान्ति के युग में नाटक का विकास असम्भव था । बहुत समय की अशान्ति और उत्पीड़न ने जातीय जीवन को निरूत्साहित कर दिया था ।

क्योंकि हिन्दी भाषी प्रदेश अत्याचारी मुस्लिम शासकों के आक्रमणों, युद्धों आदि से निरन्तर त्रस्त बना रहता था । नगर गाँव बसते-उजड़ते रहते थे । ऐसी स्थिति में प्रेक्षागृहों का निर्माण करना असंभव हो उठा था । जब नाटकों को अभिनीत करने के लिए रंगमंच ही नहीं था तो नाटक क्यों लिखे जाते । वस्तुतः नाटक का विकास शान्तिपूर्ण वातावरण में ही होता है । यही कारण है कि उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब अंग्रेजी राज्य में शान्ति और व्यवस्था

आई तो उसके साथ ही हिन्दी में द्रुत गति के साथ नाटकों की रचना होनी आरंभ हो गई और रंगमंच भी बनाए जाने लगे ।

16वीं सदी में आते-आते वैष्णव आंदोलन ने जनजीवन को झकझोर कर उठा दिया । इसी आन्दोलन ने 'रामलीला' और 'रासलीला' के रूप को जनता को उसकी नाट्यशालाएँ भेंट की । उन्हीं के द्वारा तुलसी और सूर की रचनाएँ झोपड़ियों तक पहुँच सकीं । परन्तु आगे चलकर रीतिकाल में चिन्तनहीनता पराकाष्ठा पर पहुँच गई । कवियों और जनता के बीच दुर्लध्य खाई उत्पन्न हो गई । संस्कृत नाटकों की छिछली परम्परा का स्रोत भी सूख गया था । ऐसी दशा में कौन नाटक लिखता । नाटक में प्रधान रूप से सामाजिक जीवन का चित्रण होता है । हिन्दी का भक्तिकाल सामाजिकता-प्रधान रहते हुए भी मूलत: आध्यात्मिक हो रहा था, इसी कारण उस युग में नाटक-रचना के लिए प्रेरणा और प्रोत्साहन न मिल सका । नाटक जन-चेतना के साथ ही उत्पन्न होते हैं । आधुनिक युग में यही हुआ । उपर्युक्त सारे कारणों ने मिलकर ही हिन्दी में नाटक-रचना को प्रोत्साहित नहीं किया था ।

17.6 हिन्दी में नाटकों का विकास

अंग्रेजी राज के आगमन से अपमान और ठोकर खाकर जीवन की वास्तविकताओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हुआ । उस अपेक्षाकृत अधिक शान्पिूर्ण युग में हमारी समस्याओं की अभिव्यक्ति नाटकों द्वारा होने लगी । भारतेन्दु युग में नाटक-साहित्य का विकास प्रारंभ हुआ । भारतेन्दु से पूर्व भी हिन्दी में कई नाटक लिखे गए थे, जिनमें से कुछ का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । उनके अतिरिक्त हृदयराम का 'हनुमन्नाटक', देव कवि का 'देवमाया प्रपंच', महाराजा विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द-रघुनन्दन', महाराजा जसवन्तसिंह का 'प्रबोध चन्द्रोदय', तथा हरिराम का 'सीता स्वयंवर' आदि नाटक भी रीतिकाल तथा पूर्व भारतेन्दु काल में लिखे गए थे । उपर्युक्त नाटकों में से कुछ नाटकीय कविता तथा अनुवाद हैं । इसी समय के दो रंगमंचीय नाटक और मिलते हैं । अमानत का लिखा हुआ 'इन्दर सभा' तथा पं० शीतल प्रसाद त्रिपाठी का लिखा हुआ 'जानकी मंगल' । 'इन्दर सभा' गीति-नाट्य परंपरा का प्रथम नाटक माना जा सकता है । इसकी रचना सन् 1800 ई० के लगभग हुई थी । यह अपने गीतों के कारण बहुत लोकप्रिय रहा था । इन सभी नाटकों में पद्य की प्रधानता और नाटकीय नियमों का अभाव था । साहित्यिक दृष्टि से इनका मूल्य नगण्य है । भारतेन्दु युग से पहले के मौलिक नाटकों में केवल दो नाटक उल्लेख योग्य हैं - महाराजा विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' तथा भारतेन्दु के पिता बाबू गोपालचन्द्र (गिरधरदास) का 'नहुष' । अनूदित नाटकों में राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा किया गया 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' का हिन्दी अनुवाद बहुत प्रसिद्ध हुआ, जिसमें मूल कृति का सा सौन्दर्य पाया जाता है । इसका गद्य खड़ीबोली का और पद्य ब्रजभाषा का है । एक प्रकार से खड़ी बोली में लिखा गया यह हिन्दी का सर्वप्रथम अनूदित नाटक है । काल-क्रमानुसार इसके उपरान्त भारतेन्दु का नाम आता है ।

17.7 पारसी थियेटर

भारतेन्दु से पूर्व पारसी थियेटरों का युग भी महत्त्वपूर्ण है । सन् 1870 के लगभग पेस्टनजी फ्रामसी ने 'ओरिजनल थियेट्रिकल कम्पनी' खोली जिसके उपरान्त अनेक अन्य कम्पनियों की स्थापना हुई । इन्होंने कोई प्रसिद्ध नाटककार तो नहीं उत्पन्न किया, परन्तु हमें एक अत्यन्त उपयोगी वस्तु दी - 'रंगमंच' । प्रत्येक कम्पनी का अपना नाटककार होता था जो कम्पनी के लिए नाटक लिखता था । इनमें रौनक 'बनारसी', विनायक प्रसाद तालिब 'बनारसी', अहसान 'लखनवी' बहुत प्रसिद्ध है । रौनक की 'गुलाबकावली' और 'इन्साफे महमूद' - प्रसिद्ध नाटक है । संक्षेप

में पूर्व-भारतेन्दु युग की यही नाटक परंपरा है ।

17.8 मैथिली नाटक

हिन्दी का प्राचीनतम नाटक-साहित्य जो वास्तव में नाटकीय तत्त्वों से युक्त है, मैथिली भाषा में मिलता है । महाकवि विद्यापति द्वारा रचित अनेक नाटक बताए जाते हैं, किन्तु उनमें से अब 'गोरक्ष-विजय' ही उपलब्ध है । इसका गद्य भाग संस्कृत में व पद्य भाग मैथिली में है । अप्रकाशित होने के कारण इसका अधिक विवरण अनुपलब्ध है । जब मिथिला के शासक वर्ग के कुछ लोग नेपाल चले गए तो विद्यापति की नाट्य-परम्परा का विकास मिथिला और नेपाल - दोनों प्रदेशों के साथ-साथ हुआ । नेपाल में रचित नाटकों में 'विद्या-विलाप' (1533 ई०), 'मुदित कुवल याश्व' (1628 ई०), 'हर गौरी विवाह' (1627 ई०), 'उषा-हरण', 'पारिजात हरण', 'प्रभावती-हरण' (17वीं शती) आदि उल्लेखनीय हैं । मिथिला के नाटकों में से गोविन्द का 'नल-चरित-नाटक' (1639 ई०), रामदास झा का 'आनन्द विजय' नाटक, 'देवानन्द का 'उषा-हरण' (17वीं शती), रमापति उपाध्याय का 'रूक्मिणी हरण' (18वीं शती), उमापति उपाध्याय का 'पारिजात हरण' (18वीं शती) आदि महत्त्वपूर्ण हैं । नेपाल और मिथिला में रचित इन मैथिली नाटकों की परंपरा बीसवीं शती तक अक्षुण्ण रूप में मिलती है । इनकी रचना रंगमंच पर अभिनय करने के लिए होती थी, अत: इनमें अभिनेयता का गुण मिलता है । गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग इनमें हुआ है । भाषा प्राय: सरल मैथिली है । मैथिली नाटकों के प्रभाव से आसाम और उड़ीसा में कई ऐसे नाटक लिखे गए, जिनमें विषयवस्तु, शिल्प एवं भाषा-शैली की दृष्टि से परस्पर गहरा साम्य दृष्टिगोचर होता है ।

17.9 रास-लीला नाटकों का विकास

जिस समय भारत के पूर्वी प्रदेशों मिथिला, आसाम, उड़ीसा आदि में उपर्युक्त, मैथिली-नाटक-साहित्य का विकास हो रहा था, ब्रज-प्रदेश में रास-लीला नाटकों को जैन-कवियों द्वारा रचित रासक या रासो काव्यों से सम्बद्ध करने का प्रयत्न किया है, किन्तु वास्तव में दोनों में कोई सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता । ब्रज-प्रदेश में विकसित रासलीलाओं का मूल प्रेरणास्रोत भागवत का रास संबंधी वर्णन है । सर्वप्रथम सोलहवीं शताब्दी में हित-हरिवंश जी को राधा-कृष्ण के अलौकिक रास का दर्शन हुआ, जिसके अनुकरण पर उन्होंने 'कृष्ण रास-मंडल' की स्थापना की और रास-लीलाओं का आयोजन किया । जिस रास-लीला के दर्शन हित हरिवंश जी को हुए थे, वह कैसी थी, इसका चित्रण उन्होंने स्पष्ट रूप में किया -

आजु नागरी किशोरी भावती विचित्र ओर, कहा कहीं अंग-अंग परम माधुरी ।।
करत केलि कंठ मेलि बाहु दंड [illegible] परम सरस रास लास मंडली जुरी ।।
स्याम सुन्दरी बिहार बांसुरी मृदंग तार मधुर घोष नूपरादि किंकनी चुरी ।।
देखत हरिवंश आलि नर्तनी सुधंग चलि, वारि फेरि देत प्रान देह सी दुरी ।।

गोस्वामी जी के इस रास-लीला के वर्णन को पढ़कर डॉ० ओझा जी द्रवित हो गए हैं, किन्तु हमें इसमें नाटकीयता का कोई लक्षण दिखाई नहीं देता । न हो तो इसमें कोई कथावस्तु है और न ही पात्रों का वार्तालाप । केवल-क्रिया विशेष का ही खुला वर्णन है । हमारी समझ में नहीं आता कि यह रासलीला भक्तों और साधकों को इतनी मनोमुग्धकारी क्यों प्रतीत हुई, तथा रंगमंच पर इसका अभिनय किस प्रकार किया गया होगा । डॉ० ओझा लिखते

हैं – ''इसका पुनः प्रदर्शन करने के लिए ललित सखी के गाँववाले कुछ लड़कों को इसके अभिनय के लिए पूरी शिक्षा दी गई ।'' ओझाजी के 'इस पूरी शिक्षा' वाले रहस्य को समझना कठिन है, किन्तु हम मान लेते हैं कि ऐसी लीलाएँ अवश्य ब्रज में होती रही होंगी । आगे चलकर इस रासलीला का क्षेत्र कुछ व्यापक किया और उसमें कथावस्तु के कुछ अंशों व दूसरे क्रिया-व्यापारों को स्थान दिया गया । नन्ददासजी ने 'गोवर्द्धन लीला' एवं 'स्याम-सगाई-लीला' की रचना की तथा ध्रुवदासजी व चाचा वृन्दावन दास ने लगभग 40-50 लीलाएँ लिखीं । आगे चलकर ब्रजवासीदास ने 74 लीलाएँ लिखीं । कृष्ण-लीला के नाटकों की शैली पर नरसिंह लीला, भागीरथ लीला, प्रहलाद लीला, दान लीला आदि की रचना हुई । यद्यपि प्रारंभिक लीलाएँ नाटक की अपेक्षा कविताएँ अधिक हैं, किन्तु धीरे-धीरे उनका विकास अभिनय के अनुकूल होता गया, यद्यपि उनका रूप अन्त तक पद्यबद्ध ही रहा । वस्तुतः इस श्रेणी के नाटक 'रास-लीला' के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा इनका प्रदर्शन अब भी विभिन्न रास-मंडलियों द्वारा होता है । रास-लीलाओं में नृत्य और गान की ही प्रधानता है ।

17.10 पद्य-बद्ध नाटक

सत्रहवीं और अठारहवीं शती में कुछ ऐसे पद्यबद्ध नाटकों की रचना हुई जो शैली की दृष्टि से रासलीलाओं से भिन्न हैं तथा जिनका अभिनय कदाचित नहीं हुआ । इन नाटकों में रामायण महानाटक (1667 वि०), हनुमनाटक (हृदयराम, 1980 वि०), समयसार नाटक (बनारसीदास, 1693 वि०), चंडी-चरित्र (गुरुगोविन्द सिंह), प्रबोध चन्द्रोदय (यशवन्त सिंह, 1700 वि०), शकुन्तला नाटक (नेवाज, 1727 वि०) और सभासार नाटक (श्री रघुराम नागर, सं० 1757 वि०) उपलब्ध हैं । उन्नीसवीं शताब्दी में भी इस प्रकार नाटक और भी लिखे गए – माधव-विनोद नाटक, जानकी रामचरित नाटक, रामलीला बिहार नाटक, रामायण नाटक, प्रद्युम्न विजय नाटक, नहुष नाटक और आनन्द रघुनन्द नाटक की रचना हुई । इन नाटकों में विशुद्ध पद्य का प्रयोग हुआ है तथा 'नाटक' के नाम के अतिरिक्त और कोई ऐसी विशेषता नहीं मिलती, जिससे इन्हें नाटक कहा जा सके । हाँ, प्रबोध चन्द्रोदय में अवश्य मूल-संस्कृत रचना के अनुरूप ही नाटकीय शैली का प्रयोग किया गया है ।

आधुनिक युग का नाटक साहित्य

हिन्दी में नाटक के स्वरूप का समुचित विकास आधुनिक युग के आरंभ से होता है । सन् 1850 से अब तक के युग के हम नाट्य-रचना की दृष्टि से तीनों खंडों में विभक्त कर सकते हैं (1) भारतेन्दु युग (1850-1900 ई०) (2) प्रसाद युग (1900-1930) और (3) प्रसादोत्तर युग (1930 से अब तक) । इनमें से प्रत्येक युग के प्रमुख नाटककारों का परिचय यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है ।

17.11 भारतेन्दुयुगीन नाटक

स्वयं बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी का प्रथम नाटक अपने पिता बाबू गोपालचंद्र द्वारा रचित 'नहुष नाटक' (सन् 1841 ई०) को बताया है, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से यह पूर्ववर्ती ब्रजभाषा पद्य-बद्ध नाटकों की ही परम्परा में आता है । सन् 1861 ई० राजा लक्ष्मणसिंह ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का अनुवाद प्रकाशित करवाया । भारतेन्दु जी का प्रथम नाटक 'विंद्या सुन्दर' (सन् 1868 ई०) भी किसी बंगला के नाटक का छायानुवाद था । इसके अनन्तर उनके अनेक मौलिक व अनुवादित नाटक प्रकाशित हुए जिनमें पाखंड-विडम्बनम् (1872), वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1872),

धनंजय-विजय, मुद्राराक्षस (1876), कर्पूर-मंजरी (1876), चन्द्रावली (1876) भारत दुर्दशा (1876), नीलदेवी (1877), अंधेर-नगरी (1881) और सती-प्रताप (1884) आदि उल्लेखनीय हैं । भारतेन्दु के नाटक मुख्यत: पौराणिक, सामाजिक एवं राजनैतिक विषयों पर आधारित हैं । सत्य-हरिश्चंद्र, धनंजय-विजय, मुद्राराक्षस, कर्पूर-मंजरी - ये चारों अनुवादित है । अपने मौलिक नाटकों में इन्होंने सामाजिक कुरीतियों, एवं धर्म के नाम पर होनेवाले कुकृत्यों आदि पर तीखा व्यंग्य किया है । 'पाखण्ड-विडम्बन', वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' इसी प्रकार के नाटक हैं । 'विषस्य विषमौधम्' में देशी-नरेशों की दुर्दशा पर आँसू बहाए गए हैं तथा उन्हें चेतावनी दी गई है कि यदि व न सँभले तो धीरे-धीरे अँग्रेज सभी देशी रियासतों को अपने अधिकार में ले लेंगे । 'भारत-दुर्दशा' में भारतेन्दु की राष्ट्रभक्ति का स्वर उद्‌घोषित हुआ है । इसमें 'अंग्रेज' को भारत-दुर्देव के रूप में चित्रित करते हुए भारतवासियों के दुर्भाग्य की कहानी को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया गया है । इसमें स्थान-स्थान पर विदेशी शासकों को स्वेच्छाचारिता, पुलिसवालों के दुर्व्यवहार, भारतीय जनता की मोहन्धता पर गहरे आघात किए गए हैं । कुछ आलोचक भारतेन्दु-साहित्य को भली प्रकार न समझने के कारण भारतेन्दु की राष्ट्रीयता के स्वरूप को स्पष्ट नहीं कर सके । वस्तुत: उस युग में जबकि 1857 की असफल क्रान्ति को लोग भूले नहीं थे, भारतेन्दु ने ब्रिटिश शासन एवं उसके विभिन्न अंगों की जैसी स्पष्ट आलोचना अपने साहित्य में की है, वह उनके उज्ज्वल देशप्रेम एवं अपूर्व साहस का परिचय देती है ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को संस्कृत, प्राकृत, बंगला व अंग्रेजी के नाटक साहित्य का अच्छा ज्ञान था । उन्होंने इन सभी भाषाओं से अनुवाद किए थे, नाट्यकला के सिद्धान्तों का भी उन्होंने सूक्ष्म अध्ययन किया था, जो उनकी रचना 'नाटक' से सिद्ध है । साथ ही उन्होंने अपने नाटकों के अभिनय की भी व्यवस्था की थी तथा उन्होंने अभिनय में भाग भी लिया था । इस प्रकार नाट्यकला के सभी अंगों का उन्हें पूरा ज्ञान और अनुभव था । यदि हम एक ऐसा नाटककार ढूँढें, जिसने नाट्यशास्त्र के गंभीर अध्ययन के आधार पर नाट्यकला पर सैद्धान्तिक आलोचना लिखी हो, जिसने प्राचीन और नवीन, स्वदेशी और विदेशी नाटकों का अध्ययन व अनुवाद किया हो, जिसने वैयक्तिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक एवं मौलिक नाटकों की रचना की हो और जिसने नाटकों की रचना ही नहीं; अपितु उन्हें रंगमंच पर खेलकर भी दिखाया हो - इन सब विशेषताओं से सम्पन्न नाटककार हिन्दी में ही नहीं -समस्त विश्व साहित्य में केवल दो-चार ही मिलेंगे और उन सब में भारतेन्दु का स्थान सबसे ऊँचा होगा । उनके नाटकों में जीवन और कला, सौन्दर्य और शिव, मनोरंजन और लोक सेवा का सुन्दर समन्वय मिलता है । उनकी शैली सरलता, रोचकता एवं स्वाभाविकता के गुणों से परिपूर्ण है । यह आश्चर्य की बात है कि ऐसे उच्चकोटि के नाटककार की केवल कुछ उपेक्षणीय दोषों के आधार पर डॉ० श्यामसुन्दर दास जैसे आलोचक ने भर्त्सना की है । भारतेन्दु द्वारा लिखे गए गंभीर आलोचनात्मक ग्रंथ - 'नाटक' को उन्होंने किसी अन्य व्यक्ति द्वारा रचित घोषित कर दिया, जबकि इस ग्रंथ की भूमिका में भारतेन्दु ने स्पष्ट रूप से इसे स्वरचित स्वीकार किया है ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा व उनके प्रभाव से उस युग के अनेक लेखक नाट्य रचना में प्रवृत्त हुए । श्री निवासदास ने 'रणधीर और प्रेममोहिनी', धारा कृष्णादास ने 'दु:खिनी बाला' और 'महाराणा प्रताप', खंगबहादुरलाल ने 'भारत-ललना', बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'भारत-सौभाग्य रूपक' और राधाचरण गोस्वामी ने 'तन-मन-धन श्री गोसाई जी के अर्पण, आदि नाटक लिखे । इन नाटकों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की ही प्रवृत्तियों का अनुकरण हुआ है । प्राय: सभी में समाज-सुधार, देश-प्रेम या हास्य-विनोद की प्रवृत्ति मिलती है । इनमें गद्य खड़ी बोली में तथा पद्य ब्रजभाषा में प्रयुक्त हुआ है । संस्कृत नाटकों के अनुरूप रखी गई है । शैली में सरलता, स्वाभाविकता एवं रोचकता के दर्शन होते हैं । वस्तुत: भारतेन्दु युग का नाटक-साहित्य जनता के बहुत समीप था तथा वह 'लोकरंजन' एवं 'लोक

रक्षण' - दोनों के तत्त्वों से युक्त रहा है । उसने पाठ्य और दृश्य - दोनों रूपों में तत्कालीन लोकहृदय का अनुरंजन किया ।

17.12 प्रसाद युगीन नाटक

आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य के दूसरे प्रभावशाली नाटककार जयशंकर प्रसाद हुए । यद्यपि भारतेन्दु युग की समाप्ति एवं जयशंकर प्रसाद के आगमन से पूर्व हिन्दी में अनेक नाटक लिखे गए, जिनमें अधिकांश संस्कृत, बंगला व अंग्रेजी से अनुवादित हैं, किन्तु वे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माने जाते । अनुवाद अनुवाद के माध्य से बंगला के द्विजेन्द्रलाल राय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव हिन्दी के नाटककारों पर पड़ा, जिससे उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है । पहले जहाँ पौराणिक एवं कल्पित कथानकों को ग्रहण किया जाता था, वहाँ नए युग में ऐतिहासिक विषयों को अपनाया गया । पूर्ववर्ती समाज-सुधारक एवं राष्ट्रीय दृष्टिकोण के स्थान पर सांस्कृतिक एवं दार्शनिक चित्रण को अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ । अस्तु इस परिवर्तन की सूचना सबसे पूर्व जयशंकर प्रसाद के नाटकों में मिलती है ।

श्री जयशंकर प्रसाद ने एक दर्जन से अधिक नाटकों की रचना की - सज्जन (1910 ई०), कल्याणी-परिणय (1912), करूणालय (1913), प्रायश्चित (1918), राज्यश्री (1915), विशाखनाग-यज्ञ (1923), स्कंदगुप्त (1912), एक घूँट (1929), चंद्रगुप्त (1931) और ध्रुव-स्वामिनी (1933) । भारतेन्दु युग कवियों ने देश की दुर्दशा का वर्णन बारम्बार अपनी रचनाओं में किया, जिसके प्रभाव का विकास हो जाना स्वाभाविक था । ऐसी मन:स्थिति में समाज एवं राष्ट्र विदेशी-शक्तियों से संघर्ष करने की क्षमता से शून्य हो जाता है । अत: प्रसाद जी ने अपने देशवासियों में आत्मगौरव, उत्साह, बल एवं प्रेरणा का संचार करने के लिए अतीत के गौरवपूर्ण दृश्यों को अपनी रचनाओं में चित्रित किया । यही कारण है कि सांस्कृतिक पताका विश्व के विभिन्न भागों में फहरा रही थी । प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति को प्रसाद ने बड़ी सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है, उसमें केवल उस युग की स्थूल रेखाएँ ही नहीं मिलती, तत्कालीन वातावरण के सजीव अंकन की रंगीनी भी मिलती है । धर्म की बाह्य परिस्थितियों की अपेक्षा उन्होंने दर्शन की अंतरंग गुत्थियों को स्पष्ट करना अधिक उचित समझा है । पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी उन्होंने मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करते हुए उनमें परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन व विकास दिखाया है । मानव चरित्र के सत् और असत् दोनों पक्षों को पूर्ण प्रतिनिधित्व उन्होंने प्रदान कया है । नारी रूप को जैसी महानता, सूक्ष्मता, शालीनता एवं गम्भीरता कवि प्रसाद के हाथों प्राप्त हुई है, उससे भी अधिक सक्रिय एवं तेजस्वी रूप उसे नाटककार प्रसाद ने प्रदान किया । प्रसाद के प्राय: सभी नाटकों में किसी- ।-किसी ऐसे नारी पात्र की अवतारणा हुई है, जो धरती के दुखपूर्ण अन्धकार के बीच प्रसन्नता की ज्योति की भाँति उद्दीप्त हुई है; जो पाशविकता, दनुजता और क्रूरता के बीच क्षमा, करूणा एवं प्रेम के दिव्य संदेश की प्रतिष्ठा करती है; जो अपने प्रभाव से दुर्जनों को सज्जन, दुराचारियों को सदाचारी और नृशंस अत्याचारियों को उदार लोक-सेवी बना देती है । 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' की उक्ति प्रसाद की इन दिव्य नायिकाओं पर पूर्णत: लागू होती है ।

नाट्य-शिल्प की दृष्टि से प्रसाद जी के नाटकों में पूर्वी-पश्चिमी तत्त्वों का सम्मिश्रण मिलता है । जहाँ उनके नाटकों में कथावस्तु, रस, नायक, प्रतिनायक, विदूषक, शील-निरूपण, सत्य और न्याय की विजय में भारतीय नाट्य साहित्य की परम्पराओं का पालन हुआ है । वहाँ पाश्चात्य नाटकों के संघर्ष एवं व्यक्ति-वैचित्र्य का निरूपण भी उनकी रचनाओं में हुआ है । भारतीय नाटकों की रसात्मकता इनमें भरपूर मिलती है, तो दूसरी ओर पाश्चात्य नाटकों की-सी कार्य-व्यापार की गतिशीलता भी उनमें विद्यमान है । भारतीय नाटककार सुखान्त को पसंद करते हैं - पश्चिम के

कलाकार दुखान्त को; प्रसाद ने अपने नाटकों का अन्त इस ढंग से किया है कि हम उन्हें सुखान्त भी कह सकते हैं और दुखान्त भी; न उन्हें सुखांत कह सकते हैं और न दुखान्त ही । वस्तुतः उनका अन्त एक ऐसी वैराग्यपूर्ण भावना के साथ होता है जिसमें नायक की विजय तो हो जाती है, किन्तु वह फल का उपभोग स्वयं नहीं करता, उसे वह प्रतिनायक को लौटा देता है । इस प्रकार के विचित्र अन्त को 'प्रसादांत' की संज्ञा दी गई है ।

रंगमंच व अभिनेयता की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों में अनेक दोष मिलते हैं । उनका कथानक इतना विस्तृत एवं विशृंखलित सा है कि उसमें उनसे शिथिलता आ जाती है । उन्होंने अनेक ऐसी घटनाओं एवं दृश्यों का आयोजन किया है, जो रंगमंच की दृष्टि से उपयुक्त एवं उचित नहीं । लंबे-लंबे स्वगत कथन एवं वार्तालाप, गीतों का अत्यधिक प्रयोग, दर्शनशास्त्र की सूक्ष्म एवं जटिल उक्तियों का समावेश, सर्वत्र संस्कृत-गर्भित भाषा का प्रयोग, वातावरण की गम्भीरता आदि बातें उनके नाटकों की अभिनयेता में बाधक सिद्ध होती हैं । वस्तुतः अपने नाटकों में प्रसाद कवि-दार्शनिक अधिक हैं, नाटककार कम । उनके नाटक विद्वानों द्वारा गम्भीर मनन की वस्तु है । जनसाधारण के सामने उनका सफल प्रदर्शन नहीं किया जा सकता ।

प्रसाद युग के अन्य नाटककारों में माखनलाल चतुर्वेदी (कृष्णार्जुन युद्ध), पंडित गोविन्दबल्लभ पन्त (वरमाला, राजमुकुट आदि), पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' (महात्मा ईसा), मुंशी प्रेमचंद (कर्बला, संग्राम) आदि उल्लेखनीय हैं । यह ध्यान रहे कि विषय एवं शैली की दृष्टि से इन नाटककारों में परस्पर थोड़ा-बहुत अन्तर है, तथा ये सभी नाटकों के अतिरिक्त साहित्य के अन्य अंगों की भी पूर्ति करते रहे हैं, अतः नाटककार के रूप में इनकी कोई विशिष्टता नहीं मिलती ।

17.13 प्रसाद युगेत्तर नाटक

(क) ऐतिहासिक नाटक - प्रसादोत्तर युग में ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा का पर्याप्त विकास हुआ । इस क्षेत्र में हरिकृष्ण प्रेमी, वृन्दावन लाल वर्मा, गोविन्दवल्लभ पंत, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट तथा अन्य कतिपय नाटककारों ने महत्त्वपूर्ण योग दिया । हरिकृष्ण प्रेमी के ऐतिहासिक नाटकों में 'रक्षाबन्धन' (1934), 'शिव-साधना' (1937), 'प्रतिशोध' (1937), 'स्वप्न भंग' (1940), 'आहुति' (1940), 'उद्धार' (1949), 'शपथ' (1951), 'भग्न प्राचीन' (1954), 'प्रकाश स्तम्भ' (1954), 'कीर्ति स्तंभ' (1955), 'संरक्षक' (1958), 'विदा' (1958), 'संवत्-प्रवर्तन' (1959), 'साँपों की सृष्टि' (1959), 'आन का मान' (1937) आदि को लिया जा सकता है । प्रेमी जी ने अपने नाटकों में अति प्राचीन या सुदूर पूर्व के इतिहास को न लेकर प्रायः मुस्लिम कालीन भारतीय इतिहास को लेते हुए उसके संदर्भ में आधुनिक युग की अनेक राजनीतिक, सांप्रदायिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है । उनके विभिन्न नाटकों से राष्ट्र भक्ति, आत्मत्याग, बलिदान, हिन्दू-मुस्लिम एकता आदि भावों एवं प्रवृत्तियों को उदीप्ति एवं पुष्टि होती है । उन्होंने इतिहास का उपयोग रोमांस की सृष्टि के लिए नहीं, अपितु आदर्शों की स्थापना के लिए किया है । नाट्यकला एवं शिल्प की दृष्टि से भी उनकी रचनाएँ प्रायः निर्दोष एवं सफल सिद्ध होती है ।

वृन्दावन लाल वर्मा - इतिहास के विशेषज्ञ हैं, उनकी यह विशेषज्ञता उपन्यास और नाटक - दोनों के माध्यम से व्यक्त हुई है । उनके ऐतिहासिक नाटकों में 'झाँसी की रानी' (1948), 'पूर्व की ओर' (1950), 'बीरबल' (1950), 'ललित विक्रम' (1953) आदि उल्लेखनीय हैं । इनके अतिरिक्त वर्माजी ने सामाजिक नाटक भी लिखे हैं,

जिनकी चर्चा अन्यत्र की जाएगी । वर्माजी के नाटकों में कथावस्तु एवं घटनाओं पर विशेष बल मिलता है तथा कहीं-कहीं वे अति घटना-प्रधान हो गए हैं । फिर भी दृश्य-विधान की सरलता, चरित्र-चित्रण की स्पष्टता, भाषा की उपयुक्तता एवं गतिशीलता तथा संवादों को संक्षिप्तता के कारण इनके नाटक अभिनय की दृष्टि से सफल है ।

गोविन्दवल्लभ पंत - इन्होंने अनेक सामाजिक एवं ऐतिहासिक नाटकों की रचना है । उनके 'राज-मुकुट' (1935), 'अन्तःपुर का छिद्र' (1940) आदि ऐतिहासिक नाटक हैं । पहले नाटक में मेवाड़ की पन्ना धाय के पुत्र का बलिदान तथा दूसरे में वत्सराज उदयन के अन्तःपुर की कलह का चित्रण प्रभावोत्पादक रूप में किया गया है । पंतजी के नाटकों पर संस्कृत, अंग्रेजी, पारसी आदि विभिन्न परम्पराओं का प्रभाव परिलक्षित होता है । अभिनेयता का उन्होंने अत्यधिक ध्यान रखा है ।

मूलतः अन्य क्षेत्रों से संबद्ध होते हुए भी ऐतिहासिक नाटकों के क्षेत्र में यदा-कदा प्रवेश करनेवाले लेखकों की कृतियों में से यहाँ उल्लेखनीय हैं - चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के 'अशोक' (1935), 'रेखा' (1938), 'सेठ गोविन्ददास के हर्ष' (1942), 'शशिगुप्त' (1942), 'कुलीनता' (1941); उदयशंकर भट्ट का 'मुक्ति पथ' (1944), 'दाहर' (1933), 'शक्‌विजय' (1949); सियारामशरण गुप्त का 'पुण्य-पर्व' (1933); लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'गरूड़-ध्वज' (1948), 'वत्सराज' (1950), 'वितस्ता की लहरें' (1953), उपेन्द्रनाथ अश्क का 'जय-पराजय' (1937); सत्येन्द्र का 'मुक्तियज्ञ' (1937), सुदर्शन का 'सिकन्दर' (1947), जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' (1951), देवराज दिनेश का 'यशस्वी भोज' और 'मानव प्रताप' (1952), चतुरसेन शास्त्री का 'छत्रसाल' (1954) आदि । कुछ लेखकों ने जीवनीपरक नाटक भी लिखे हैं, यथा - लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'कवि भारतेन्दु' (1955) तथा सेठगोविन्ददास ने 'भारतेन्दु' (1955), 'रहिम' (1955) आदि की रचना की । इन्हें भी हम ऐतिहासिक नाटकों में स्थान दे सकते हैं ।

ऐतिहासिक नाटकों की उपर्युक्त सूची से इनकी प्रगति एवं अभिवृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है । यद्यपि यहाँ इनके विस्तृत विश्लेषण व विवेचन के लिए अवकाश नहीं है, किन्तु सामान्य रूप में कहा जा सकता है कि इनमें इतिहास और कल्पना का संतुलित संयोग मिलता है । अधिकांश नाटकों में इतिहास की केवल घटनाओं को ही नहीं अपितु उनके सांस्कृतिक वातावरण को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व, युगीन येतना एवं तत्कालीन सत्य को उद्‌घाटित करने का प्रयास भी अनेक नाटककारों ने किया है । कला, शिल्प और शैली की दृष्टि से भी इनमें पूर्ववर्ती नाटकों की तुलना में विकास दृष्टिगोचर होता है । पर कहीं-कहीं ऐतिहासिक ज्ञान, विचार एवं प्रयोग की नूतनता पर अधिक बल दिए जाने के कारण रोचकता एवं प्रभावोत्पादकता में भी न्यूनता आ गई है ।

(ख) पौराणिक नाटक - इस युग में पौराणिक नाटकों की परंपरा का भी विकास हुआ । विभिन्न लेखकों ने पौराणिक आधार को ग्रहण करते हुए अनेक उत्कृष्ण नाटक प्रस्तुत किए, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैं : सेठ गोविन्ददास का 'कर्त्तव्य' (1935), चतुरसेन शास्त्री का 'मेघनाद' (1936), पृथ्वीनाथ शर्मा का 'उर्मिला' (1950); सद्‌गुरूशरण अवस्थी का 'मंझली रानी'; रामवृक्ष बेनीपुरी का 'सीता की माँ', गोकुलचन्द्र शर्मा का 'अभिनय रामायण'; किशोरीदास वाजपेयी का 'सुदामा' (1939); चतुरसेन शास्त्री का 'राधाकृष्ण'; वीरेन्द्र कुमार गुप्त का 'सुभद्रा-परिणय'; कैलाशनाथ भटनागर के 'भीम-प्रतिज्ञा' (1934) और 'श्री वत्स' (1941); उदयशंकर भट्ट के 'विद्रोहिणी अम्बा' (1935) और 'सगरविजय' (1937) पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'गंगा का बेटा' (1940), डॉ० लक्ष्मणस्वरूप का 'नल-दमयन्ती' (1941); प्रभुदत्त ब्रह्मचारी का 'श्री शुक' (1944); तारा मिश्र का 'देवयानी'

(1945); गोविन्ददास का 'कर्ण' (1946); कामनिधि शास्त्री का 'प्रणापूर्ति' (1950), उमाशंकर बहादुर का 'वचन का मोल' (1951); गोविन्दवल्लभ पंत का 'ययाति' (1951); मोहनलाल 'जिज्ञासु' का 'पर्वदान' (1952), हरिशंकर सिन्हा 'श्रीवास' का 'माँ दुर्गे' (1953), लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'नारद की वीणा' (1946), और 'चक्रव्यूह' (1954), रांगेय राघव का 'स्वर्गभूमि का यात्री' (1951), मुखजी गुंजन का 'शक्तिपूजा' (1952), जगदीश का 'प्रादुर्भाव' (1955), सूर्यनारायण मूर्ति का 'महानाश की ओर' (1960) आदि। डॉ० देवर्षि सनाढ्य शास्त्री ने अपने शोध-प्रबंध में इनकी सामान्य विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए प्रतिपादित किया है कि इनका कथानक पौराणिक होते हुए भी उसके ब्याज से आज की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। पौराणिक चरित्रों द्वारा किसी ने कर्त्तव्य के आदर्श को पाठकों के सम्मुख रखा है, किसी न किसी उपेक्षित पात्र के साथ सहानुभूति के दो आँसू बहाए हैं। किसी ने जाति-पाँति के भेद की समस्या का समाधान ढूँढ़ा है तो किसी ने नारी के गौरव के प्रति अपनी श्रद्धा के फूल अर्पित किए हैं। अधिकांश नाटककार इन पौराणिक नाटकों द्वारा आज के जीवन को देखने लगे।

इन नाटकों की दूसरी विशेषता है - प्राचीन संस्कृति के आधार पर पौराणिक गाथाओं के असम्बद्ध एवं असंगत सूत्रों में संबंध एवं संगति स्थापित करने का प्रयास। तीसरे, वे हमें आज के जीवन की संकीर्णताओं एवं सीमाओं से ऊपर उठाकर जीवन की व्यापकता एवं विशालता का संदेश देते हैं। रंगमंच एवं नाटकीय शिल्प की दृष्टि से अवश्य इनमें अनेक नाटक दोषपूर्ण सिद्ध होंगे, किन्तु गोविन्दवल्लभ पंत , सेठ गोविन्ददास लक्ष्मीनारायण मिश्र जैसे मँजे हुए नाटककारों ने इसका पूरा ध्यान रखा है। अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये नाटक विषयवस्तु की दृष्टि से पौराणिक होते हुए भी प्रतिपादन शैली एवं कला के विकास की दृष्टि से आधुनिक है तथा वे आज के सामाजिक रुचि एवं समस्याओं के प्रतिकूल नहीं है।

(ग) कल्पनाश्रित नाटक - इस युग के कल्पनाश्रित नाटकों को भी उनकी मूल-प्रवृत्ति की दृष्टि से तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है - (1) समस्या-प्रधान नाटक (2) भावप्रधान नाटक एवं (3) प्रतीकात्मक नाटक। समस्या प्रधान नाटकों का प्रचलन मुख्यत: इब्सन, बर्नार्ड शॉ आदि पाश्चात्य नाटककारों के प्रभाव से ही हुआ है। पाश्चात्य नाटक के क्षेत्र में रोमांटिक नाटकों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप यथार्थवादी नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनमें सामान्य जीवन की समस्याओं का समाधान विशुद्ध बौद्धिक दृष्टिकोण से खोजा जाता है। इनमें विशेषत: यौन समस्याओं को ही लिया गया है। बाह्य द्वन्द्व की अपेक्षा इनमें आन्तरिक या मानसिक द्वन्द्व अधिक दिखाया गया है। स्वगत-भाषण, गीत काव्यात्मकता आदि का इनमें परित्याग कर दिया गया है। विषयवस्तु की दृष्टि से इन्हें भी दो उपभेदों में विभक्त किया जा सकता है - (1) मनोवैज्ञानिक एवं (2) सामाजिक। मनोवैज्ञानिक नाटकों में मुख्यत: काम संबंधी समस्याओं का विश्लेषण यौन-विज्ञान एवं मनोविश्लेषण के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इस वर्ग में मुख्यत: लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक आते हैं। दूसरे वर्ग में आज के युग और समाज की विभिन्न समस्याओं का समाधान आदर्शवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। इस वर्ग के लेखकों में सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', वृन्दावन लाल वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, गोविन्दवल्लभ पंत के नाम उल्लेखनीय हैं।

लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या प्रधान नाटकों में 'संन्यासी' (1931), 'राक्षस का मंदिर' (1931), 'मुक्ति का रहस्य' (1932), 'राजयोग' (1934), 'सिन्दूर की होली' (1934), 'आधी रात' (1937) आदि उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने कुछ ऐतिहासिक नाटक भी लिखे थे जिनकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। मिश्र जी के इन नाटकों में बौद्धिकतावाद, यथार्थवाद, एवं फ्रायडवाद की प्रमुखता है। इब्सन, शॉ, आदि पाश्चात्य नाटककारों की भाँति

इन्होंने भी जीवन के प्रति विशुद्ध बौद्धिकतावादी दृष्टिकोण का विरोध किया है । उनके अधिकांश नाटकों में यौन-संबंधी प्रवृत्तियों एवं काम समस्याओं को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है ।

सामाजिक नाटकों के क्षेत्र में सेठ गोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', वृन्दावनलाल वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान है । सेठ गोविन्ददास ने ऐतिहासिक, पौराणिक विषयों के अतिरिक्त सामाजिक समस्याओं का चित्रण भी अपने अनेक नाटकों में किया है, जिनमें से 'कुलीनता' (1940), 'सेवापथ' (1940), 'दुख क्यों ?' (1946), 'सिद्धांत-स्वातंत्र्य' (1938), 'त्याग या ग्रहण' (1943), 'संतोष कहाँ' (1945), 'पाकिस्तान' (1946), 'महत्त्व किसे' (1947), 'गरीबी और अमीरी' (1947), 'बड़ा पापी कौन' (1948) आदि उल्लेखनीय हैं । सेठजी ने आधुनिक युग की विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं का चित्रण सफलतापूर्वक किया है ।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को न तो लक्ष्मीनारायण मिश्र की भाँति विशुद्ध यथार्थवादी कहा जा सकता है और न ही सेठजी की भाँति आदर्शवादी, वे इन दोनों के बीच की स्थिति में हैं, अतः उन्हें आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कहना उचित होगा । उन्होंने व्यक्ति समाज और राष्ट्र की विभिन्न समस्याओं का चित्रण जहाँ यथार्थ के स्तर पर किया है, वहाँ उनके मूल में सुधार या क्रान्ति की भावना निहित है, जो आदर्शवादी की सूचक है । उनके प्रमुख नाटकों में 'स्वर्ग की झलक' (1939), 'कैद' (1945), 'उड़ान' (1949), 'छठा बेटा' (1949), 'अलग-अलग रास्ते' (1955) आदि उल्लेखनीय हैं । इन्होंने अपने नाटकों में नारी-शिक्षा, नारी स्वातंत्र्य, विवाह-समस्या, संयुक्त परिवार आदि से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों पर सामाजिक दृष्टि से तीखे व्यंग्य किए हैं । अनेक नाटकों में उन्होंने आधुनिक समाज की स्वार्थपरता, धन-लोलुपता कामुकता, अनैतिकता आदि का भी चित्रण यथार्थवादी शैली में किया है । पर अश्क की नाट्यकला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे समस्याओं और समाधानों को उपदेशात्मक एवं गंभीर रूप में प्रस्तुत नहीं करते, अपितु उनका निर्दशन हास्य-व्यंग्य शैली में करते हैं, जिससे उनका प्रभाव और अधिक तीखा हो जाता है । रंगमंच और शैली की दृष्टि से तो उनकी तुलना किसी भी अन्य नाटककार से करना कठिन है ।

वृन्दावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिक उपन्यासों और नाटकों के अतिरिक्त सामाजिक नाटकों के क्षेत्र में भी सफलता प्राप्त की है । उनके इस वर्ग के नाटकों में से 'राखी की लाज' (1943), 'बाँस की फाँस' (1947), 'खिलौने की खोज' (1950), 'केवट' (1951), 'नीलकंठ' (1951), 'सगुन' (1951), 'निस्तार' नाटकों में विवाह, जाति-पाँति, ऊँच-नीच; सामाजिक वैषम्य, नेताओं की स्वार्थपरायणता आदि से संबंधित विभिन्न प्रवृत्तियों एवं समस्याओं का अंकन प्रस्तुत किया है ।

गोविन्दवल्लभ पंत के सामाजिक नाटकों में 'अंगूर की बेटी' (1937), 'सिन्दूर की बिन्दी' आदि उल्लेखनीय हैं । इनमें से पहली रचना में मदिरा पान के विषम एवं भयंकर परिणामों का दिग्दर्शन कराते हुए अन्त में इस व्यसन से मुक्ति पाने की विधि पर प्रकाश डाला गया है । 'सिन्दूर-बिन्दी' में भ्रष्ट एवं परित्यक्त नारी की समस्या का चित्रण अत्यन्त सहानुभूतिपूर्वक प्रस्तुत किया गया है । इस प्रकार पंतजी के नाटकों में सर्वत्र समाज सुधार की भावना परिलक्षित होती है, किन्तु साथ ही उनमें रोचकता और कलात्मकता का भी अभाव नहीं है ।

पृथ्वीनाथ शर्मा ने 'दुविधा' (1938), 'अपराधी' (1939), 'साथ' (1944) आदि सामाजिक नाटकों की रचना की है जिनमें उन्मुक्त प्रेम, विवाह तथा सामाजिक न्याय से संबंधित विभिन्न प्रश्नों को प्रस्तुत किया गया है । 'दुविधा' की नायिका स्वच्छंद प्रेम एवं विवाह में से किसी एक को चुनने की दुविधा से ग्रस्त दिखाई गई है । यही

समस्या 'साण' में भी है। इस दृष्टि से वे लक्ष्मीनारायण मिश्र के समीप पड़ते हैं, किन्तु उनका दृष्टिकोण मिश्र जी के दृष्टिकोण की भाँति अति यथार्थवादी नहीं है।

इस युग के अन्य सामाजिक नाटकों में उदयशंकर भट्ट के द्वारा रचित 'कमला' (1939), 'मुक्ति पथ' (1944), 'क्रान्तिकारी' (1953), 'हरिकृष्ण प्रेमी की छाया'; प्रेमचन्द का 'प्रेम की वेदी' (1933); चन्द्रशेखर पाण्डेय की 'जीत में हार' (1942), जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द का 'समर्पण' (1950), चतुरसेन शास्त्री का 'पगध्वनि' (1952), दयानाथ झा का 'कर्मपथ' (1953), जयनाथ नलिन का 'अवसान', शंभूनाथ सिंह का 'धरती और आकाश' (1954), अभयकुमार 'यौधेय' का 'नारी की साधना' (1954); रघुवीर शरण मित्र का 'भारत माता' (1954); श्री संतोष को 'मृत्यु की ओर', तुलसी भाटिया का 'मर्यादा', रामनरेश त्रिपाठी का 'पैसा परमेश्वर' आदि उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन लेखकों में से अधिकांश मूलतः नाटककार न होकर अपने युग, समाज और राष्ट्र की विभिन्न परिस्थितियों, प्रवृत्तियों एवं समस्याओं का अंकन इनमें कुशलतापूर्वक किया है। विषय-प्रतिपादन एवं नाट्य-शिल्प की दृष्टि से अधिकांश रचनाएँ सफल एवं रोचक हैं।

कल्पनाश्रित नाटकों का दूसरा वर्ग भावप्रधान नाटकों का है, जिन्हें शैली की दृष्टि से सामान्यतः 'गीतिनाटक' नाम दिया जाता है। इस वर्ग के नाटकों के लिए भाव की प्रमुखता के साथ-साथ पद्य का माध्यम भी अपेक्षित होता है। आधुनिक युग में रचित हिन्दी का पहला गीतिनाटक जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित 'करूणालय' (1912) माना जाता है। इसमें पौराणिक आधार पर राजा हरिश्चन्द्र तथा शुन-शेश की बलि की कथा प्रस्तुत की गई है। प्रसाद के अनन्तर एक दीर्घ समय तक गीतिनाटकों के क्षेत्र में कोई नया प्रयास नहीं हुआ, किन्तु परवर्ती युग में अनेक गीतिनाटक लिखे गए, यथा - मैथिलीशरण गुप्त के द्वारा 'अनघ' (1912), हरिकृष्ण प्रेमी द्वारा 'स्वर्ण विद्वान', उदयशंकर भट्ट के द्वारा 'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र', 'राधा' आदि; सेठ गोविन्ददास के द्वारा 'स्नेह या स्वर्ग' (1946); भगवतीचरण वर्मा द्वारा 'तारा' आदि। इस क्षेत्र में सर्वाधिक सफलता उदयशंकर भट्ट को मिली है। उन्होंने अपने पात्रों की विभिन्न भावनाओं एवं उनके अन्तर्द्वन्द्व को अत्यंत सशक्त एवं संगीतात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। इनमें पात्रों के संवाद भी प्रायः लय और संगीत से परिपूर्ण शब्दों में प्रस्तुत हुए हैं।

विगत दशाब्दी में और भी कई गीतिनाटक प्रकाश में आए हैं, जिनमें से सुमित्रानंदन पंत के 'रजत शिखर' और 'शिल्पी', (जिनमें उनके नौ गीति नाट्य संगृहीत हैं) डॉ० धर्मवीर भारती का 'अंधा युग', सिद्धकुमार का 'लौह देवता', आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रतीकवादी नाटकों की परम्परा का नवोत्थान प्रसाद के 'कामना' (1927) नाटक से होता है। उनके अनन्तर लिखे गए प्रतीकवादी नाटकों में से ये उल्लेखनीय हैं। सुमित्रानंदन पंत का 'ज्योत्सना' (1934); भगवती प्रसाद वाजपेयी का 'छलना' (1939) सेठ गोविन्ददास का 'नव रस', कुमार हृदय का 'नक्शे का रंग' (1941) आदि। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा रचित 'मादा कैक्टस' एवं 'सुन्दर रस' (1959) भी सुन्दर प्रतीकात्मक नाटक है। इस वर्ग के नाटकों में विभिन्न पात्र विभिन्न विचारों या तत्त्वों के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत हुए हैं।

हिन्दी के नए नाटककारों में मोहन राकेश का नाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है जिन्होंने 'आषाढ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'आधे अधूरे' जैसे सशक्त नाटकों की रचना की है। राकेश जी ने इनमें प्राचीन पृष्ठभूमि को ग्रहण करते हुए भी उसके माध्यम से आधुनिक संवेदना एवं दृष्टिकोण की व्यंजना की है। रंगमंच की दृष्टि से भी उनकी कृतियाँ सफल सिद्ध हुई हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी नाटक का विकास अनेक रूपों और अनेक दिशाओं में हुआ है, किन्तु हिन्दी रंगमंच के अभाव तथा एकांकी, रेडियो रूपकों तथा फिल्मादि की प्रतियोगिता के कारण इनके विकास की गति मंद हो गई ।

वस्तुत: अब आवश्यकता इस बात की है कि फिल्मों को भी दृश्य-काव्य या नाटक का एक रूप माना जाए तथा उनके माध्यम से साहित्यिक नाटकों को प्रस्तुत किया जाए । यदि फिल्मों को साहित्यिक रूप दिया जा सके, तो उसमें फिल्मों का स्तर ऊँचा उठने के साथ-साथ नाटक की लोकप्रियता भी बनी रह सकती है । पर ऐसा होना तभी संभव है, जबकि साहित्यिक संस्थाएँ इस ओर ध्यान दें ।

17.14 अभ्यास के प्रश्न

1. हिन्दी नाटक के भारतेन्दुयुग के पूर्व नाटक के विभिन्न रूपों का उल्लेख कीजिए ।
2. भारतेन्दुयुगीन नाटकों का उल्लेख कीजिए ।
3. प्रसादयुगीन नाटकों का उल्लेख कीजिए ।
4. प्रसाद-युगेत्तर नाटकों का उल्लेख कीजिए ।

हिन्दी नाटक और प्रसाद

पाठ संरचना

18.0 उद्देश्य
18.1 परिचय
18.2 प्रसाद के नाटकों का वर्गीकरण और विशेषताएँ
18.3 ऐतिहासिकता और सांस्कृतिक चेतना
18.4 देशप्रेम
18.5 दार्शनिकता और नियतिवाद
18.6 काव्यतत्त्व और गीत योजना
18.7 प्रेम भावना
18.8 नाटकीय तत्त्वों की योजना
18.9 अभ्यास के प्रश्न

18.0 उद्देश्य

साहित्य की सभी विधाओं में नाटक का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इसकी महत्ता का प्रमाण है कि प्राचीन भारत में साहित्य के शास्त्र का आरंभ नाटक के विवेचन से हुआ । सम्पूर्ण हिन्दी नाटक साहित्य में जयशंकर प्रसाद का स्थान मूर्धन्य है । वे हिन्दी नाटक के शिखर पुरुष हैं । इस इकाई का उद्देश्य हिन्दी नाटक में प्रसाद के अवदान से पाठकों को परिचित कराना है ।

18.1 परिचय

हिन्दी नाटक साहित्य के इतिहास में छायावाद युग को प्रसाद युग कहना अत्युक्ति नहीं है । इसी तरह प्रगतिवाद को प्रसादोत्तर युग । हिन्दी नाटक को साहित्यिक भूमिका देने का कार्य भारतेन्दु ने किया था । उस परम्परा को बढ़ाकर प्रसाद जी ने एक ऊँचाई दी । वे ऐतिहासिक नाटककार के रूप में प्रसिद्ध हैं । साधारणत: प्रसाद का नाटक रचनाकाल सन् 1910 से आरंभ होता है । वस्तुत: हिन्दी साहित्य में श्री जयशंकर प्रसाद का व्यक्तित्व अप्रतिम है और वह एक साथ ही कवि कहानीकार, उपन्यास लेखक, नाटककार, इतिहास व दार्शनिक आदि कई रूपों में हमारे सामने आते हैं तथा उन सभी क्षेत्रों में उन्हें अद्वितीय सफलता भी प्राप्त हुई है । इस प्रकार प्रसाद की प्रतिभा बहुमुखी ही है ।

18.2 प्रसाद के नाटकों का वर्गीकरण और विशेषताएँ

वस्तुत: हिन्दी साहित्य में 'श्री जयशंकर प्रसाद' का व्यक्तित्व अप्रतिम है और वह एक साथ ही कवि,

कहानीकार, उपन्यासकार, लेखक, नाटककार, इतिहास व दार्शनिक आदि कई रूपों में हमारे सामने आते हैं तथा उन सभी क्षेत्रों में उन्हें अद्वितीय सफलता भी प्राप्त हुई है । इस प्रकार प्रसाद की प्रतिभा बहुमुखी ही है और जैसा कि डॉ० इन्द्रनाथ मदान का मत है उनकी कविता, उनका दार्शनिक चिंतन, उनकी कथात्मक वृत्ति और उनकी नाट्यकला सभी में उन्होंने समान रूप से अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है । आश्चर्य की बात तो यह है कि जो कुछ लिखा है, वह उत्कृष्ट लिखा है । कहीं शैथिल्य, कहीं भर्ती का प्रयत्न नहीं, कहीं कृत्रिमता नहीं । सब एकदम ठोस स्वाभाविक और लाजवाब । साहित्य में इस प्रकार की अभूतपूर्व सफलता महान प्रतिभाशाली व्यक्तियों को ही मिलती है । प्रसाद ऐसे ही प्रतिभाशाली व्यक्ति थे ।

साधारणतः प्रसाद का नाटक रचनाकाल सन् 1910 से आरंभ होता है, परन्तु उनकी नाट्यकला का वैज्ञानिक अनुशीलन करने के पूर्व उनकी पूर्ववर्ती हिन्दी नाट्य परम्परा से परिचित होना भी आवश्यक है । यह तो निर्विवाद सत्य ही है कि हिन्दी नाट्य साहित्य के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही थे और उन्होंने ही हिन्दी नाटकों का श्रीगणेश किया है लेकिन जैसा कि श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का कहना है भारतेन्दु के नाटक व्यापार प्रधान न होकर भावना प्रधान और काव्यात्मक रहे हैं । उनमें चरित्र की रूपरेखा स्वतंत्र नहीं, रस की अनुवर्तिनी रही है । इस विशेष अर्थ में भारतेन्दु के नाटक 'रसात्मक' या प्रभावाभिव्यंजक ही कहे जाएँगे । फिर भी उनमें उच्चकोटि की नाटकीय प्रतिभा और क्षमता थी, जिसके कारण वे प्रभावशालिनी वस्तु योजना और आकर्षक परिस्थिति-निर्माण कर सके हैं । इस कारण उनके नाटकों में आज भी अभिनेयता का सामर्थ्य बना हुआ है । उसके पश्चात् द्विवेदी युग के नाटककारों में प्रेम-कथानक को लेकर नाट्य-रचना चलने लगी । नाटक दो पात्रों की प्रेमलीला का रंगीन, किन्तु गतिहीन आख्यान बन गया । दूसरी ओर पारसी कम्पनियाँ असाहित्य और असांस्कृतिक नाटकों का निर्माण और अभिनय करने में लगी हुई थीं । इस छाये हुए सन्नाटे को दूर कर पहले-पहल कुछ घटना प्रधान ऐतिहासिक नाटक हिन्दी में लिखे गए । ये नाटक प्राचीन युग के उत्कर्ष व्यंजक होने के कारण भावप्रधान भी थे । चरित्र न सही, कुछ साकार और सजीव व्यक्तियों का आगमन नाटक साहित्य में होने लगा । कुछ अंतर्द्वन्द्व या भावुकता-प्रधान बंगला नाटकों का भी हिन्दी अनुवाद हुआ । इसी समय प्रसाद जी ने नाट्यक्षेत्र में प्रवेश कर नाटक को नए चरित्र, नई घटनाएँ, नया ऐतिहासिक देशकाल, नया आलाप-संलाप - संक्षेप में नया समारम्भ दिया । हिन्दी नाटकों में नया युग प्रवर्त्तन होने लगा ।

इस प्रकार प्रसाद जी युगप्रवर्तक नाटककार है और उन्होंने प्राचीनता का ध्यान रखते हुए अंग्रेजी व बंगला साहित्य से प्रभावित हो नूतन मार्ग भी ग्रहण किया । अतएव उनकी नाट्यशैली प्राचीन और आधुनिक नाट्यशैली की सम्मिलित भूमि है तथा उन्हें हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम मौलिक नाटककार भी कहा जाता है ।

अपने साहित्यिक रचनाकाल के पैंतीस वर्ष की सीमित अवधि में प्रसाद ने चौदह नाटक प्रस्तुत किए और दो का संयोजन किया जिनकी तालिका इस प्रकार दी जा सकती है -

1. सज्जन (1910-11), 2. प्रायश्चित (जनवरी 1915), 3. कल्याण परिणय (1912), 4. करूणालय (फरवरी, 1912), 5. यशोधर्मदेव (अप्रकाशित), 6. राज्यश्री (जनवरी 1915), 7. विशाख (1921), 8. अजातशत्रु (1922), 9. जन्मेजय का नागयज्ञ (1936), 10. कामना (1923-24), 11. स्कन्दगुप्त (1928), 12. चन्द्रगुप्त (1931), 13. एक घूँट (1930), 14. ध्रुवस्वामिनी (1933), 15. अग्निमित्र (अपूर्ण), 16. इन्द्र (संयोजन मात्र)

उक्त तालिका में उल्लिखित यशोधर्मदेव नामक नाटक विशाख से पूर्व ही लिखा गया था और इसका आकार भी विशद था तथा इनके प्रकाशित किए जाने की सूचना भी विशाख की भूमिका में दी गई थी, पर यह प्रकाश में

आने के पूर्व ही नष्ट कर दिया गया । कहा जाता है कि जिस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर इस नाटक की कथा आधारित थी उसकी ऐतिहासिकता कई विद्वानों द्वारा अमान्य ठहराई गई थी और इस दिशा में पुष्ट प्रमाण भी प्रस्तुत किए गए, अत: अनैतिहासिक नाटकों को प्रकाश में लाना उचित न समझ उसे नष्ट कर दिया गया ।

इसी प्रकार अग्निमित्र का लेखन कार्य इरावती नामक उपन्यास से पूर्व ही आरंभ हो चुका था और इसकी कथावस्तु ही इरावती की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है । अग्निमित्र के दो-तीन दृश्य लिखे गए पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रसाद से इस कथानक पर नाटक न लिखकर उपन्यास लिखने का परामर्श दिया, अत: इरावती का लेखनकार्य प्रारंभ हो गया और अग्निमित्र अपूर्ण ही रह गया । इस नाटक का जो अंश लिखा गया था वह प्रसाद के देहावसान के उपरान्त वाराणसी (काशी) के दैनिक आज के 31 अक्टूबर 1944 के अंक में प्रकाशित हुआ ।

अपने जीवन के अंतिम दिनों में प्रसाद जी इन्द्र नामक नाटक लिखने का विचार भी कर रहे थे तथा अपने इस नाटक में वह त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप की हत्या आदि पर ऐतिहासिक ढंग से विचार करना चाहते थे, लेकिन वह इसे साकार रूप न दे सके ।

18.3 ऐतिहासिकता और सांस्कृतिक चेतना

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रसाद के केवल तेरह नाट्यकृतियाँ ही बची रहती हैं और उनमें भी सज्जन, कल्याणी परिणय, करूणालय व प्रायश्चित एकांकी ही है तथा एक घूँट और कामना भाव रूपक है । शेष जो आठ नाटक अवशिष्ट बचे रहते हैं, वह सभी ऐतिहासिक है और स्वयं प्रसाद ने अपना उद्देश्य स्पष्ट करते हुए अपनी नाट्यकृति विशाख की भूमिका में कहा है इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यंत लाभदायक होता है....क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण संदेह है.....मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है ।

यही कारण है कि प्रसाद ने महाभारत युद्ध के बाद से लेकर हर्षवर्द्धन के शासनकाल तक के भारतीय इतिहास को अपने नाटकों की आधारभूमि बनाया है । इसमें कोई संदेह नहीं कि यही समय भारतीय संस्कृति की उन्नति व प्रसार का स्वर्णयुग कहलाता है और परीक्षित व जनमेजय से प्रारंभ होकर हर्षवर्धन तक यह विद्यमान रहा है । इसी अवधि के अन्तर्गत बौद्ध, मौर्य व गुप्तकाल आदि में हमारी संस्कृति अपने उच्चतम उत्कर्ष पर पहुँची । प्रसाद ने इस काल के जनमेजय, अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त और हर्षवर्धन आदि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को चुनकर अपने नाटकों की रचना की तथा उनमें ऐतिहासिकता को अक्षुण्ण रखते हुए आधुनिकता का भी समावेश किया है ।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर निर्मित प्रसाद की नाट्यकृतियों का मूल स्रोत प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता ही है तथा डॉक्टर नगेन्द्र के शब्दों में 'प्रसाद' के सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक है । आर्य संस्कृति में उन्हें गहन आस्था थी, इसलिए उनके नाटकों में भारत के इतिहास का वही परिच्छेद (चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर हर्ष तक) है, जिसमें उनकी संस्कृति अपने पूर्ण वैभव पर थी.....आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को उन्होंने देखा और कहा था, यह जहर उनके प्राणों में तीखी जिज्ञासा बनकर समा गया था - उनकी आत्मा जैसे आलोकित हो उठी हो । इस आलोकन को दबाते हुए आग्रह के साथ आनन्द की उपासना करना ही उनके आदर्श की व्याख्या करना है - और यही उनके

साहित्य की मूल है ।

सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित प्रसाद के नाटकों की ऐतिहासिकता भी अक्षुण्ण रही है और जैसा कि डॉ० जगदीशचंद्र जोशी ने अपने शोध-प्रबंध प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक में कहा है । नाटककार प्रसाद ने इतिहास से जो कुछ भी सामग्री ली है, वह सामान्यतया प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यों से ली है । उसके अतिरिक्त दन्तकथाओं अथवा पुराणों की सामग्री का उपयोग वहीं किया गया है जहाँ वे या तो इतिहास के अनुकूल थे अथवा जहाँ प्रामाणिक इतिहास की सामग्री पर्याप्त नहीं है । प्रसाद ने इतिहास में कल्पना के भी प्रचुर प्रयोग किए हैं ।

ऐतिहासिक नाटक, इतिहास नहीं है । उनकी रूपरेखा तो ऐतिहासिक होती है किन्तु उसमें प्राण प्रतिष्ठा करनेवाली शक्ति नाटककार की 'सर्जक' कल्पना है । ऐतिहासिक नाटक, नाटक न होकर साहित्य है, साहित्य की एक विधा है । ऐसी दशा में केवल ऐतिहासिक घटनाओं का एकत्र रूप ऐतिहासिक नाटककार नहीं बनाता । नाटक कल्पना के प्रयोग से रसोद्रेक करने की क्षमता लाता है उसे कला बनाता है अन्यथा वह इतिहास मात्र अथवा घटनाओं की सूची भर रह जाए ।

प्रसाद ने स्वच्छ कल्पनाओं का आश्रय नहीं लिया है । उनकी कल्पना ने सर्वत्र या तो कारण-कार्य परंपरा से रहित इतिहास की घटना में उक्त परंपरा को भरने का प्रयत्न किया है अथवा इतिहास के कठपुतलों में प्राण फूँकने का । इतिहास व्यक्ति को (महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को) राजनीतिक घटनाओं या अधिक-से-अधिक सामाजिक एवं धार्मिक घटनाओं की पृष्ठभूमि में देखता है । उसने क्या कार्य किए जिनके फलस्वरूप वह इतिहास बन गया, यही इतिहास का प्रधान दृष्टिकोण होता है । नाटक में वही महत्त्वपूर्ण व्यक्ति मानवता के वैयक्तिक गुणों - ईर्ष्या, द्वेष, प्रणय, कलह इत्यादि को लेकर आता है । नाटककार को इतिहास और नाटक का अन्तर भी देखना पड़ता है । नायक के हृदय को भी खोलना पड़ता है । प्रसाद ने यह कार्य बड़ी खूबी से किया है ।

यहाँ यह भी ध्यान में रखना होगा कि कल्पना या अवलम्ब लेते हुए भी नाटककार प्रसाद ने कहीं भी वास्तविकता की हत्या नहीं की और सर्वत्र ही ऐतिहासिक सत्यों की रक्षा की है । सामान्यत: उन्होंने कल्पना का प्रयोग दो प्रकार से किया है और एक ओर तो वह ऐतिहासिक तथ्यों में एकसूत्रता लाने व दूसरी ओर नाटकीय पूर्णता की दृष्टि से कुछ अनैतिहासिक पात्रों की सृष्टि के लिए कल्पना का अवलम्ब ग्रहण करते हैं, पर इससे ऐतिहासिकता को तनिक भी क्षति नहीं पहुँचती । कहीं-कहीं छूटे हुए अंशों को शृंखलाबद्ध करने के लिए या पात्र विशेष के चरित्र की किसी मार्मिकता का उद्‌घाटन करने के उद्देश्य से भी कल्पना के आधार पर परिस्थितियों की रचना कर ली गई है, लेकिन इससे रस-निष्पत्ति में सहायता मिली है ।

इस प्रकार प्रसाद ने एक ओर प्राचीन इतिहास हमारे सामने प्रस्तुत किया और दूसरी ओर नूतन खोजें भी की हैं तथा वास्तविक इतिहास अपनी नाट्यकृतियों द्वारा प्रस्तुत किया है । उनके अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, स्कन्दगुप्त, राज्यश्री आदि नाटकों की भूमिकाएँ हमारे इस कथन की साक्षी हैं और हम देखते हैं कि इतिहास व पुरातत्व के वे एक महान् अन्वेषक भी हैं ।

18.4 देशप्रेम

प्रसाद की नाट्यकृतियों की एक मूल विशिष्टता नाटककार का देशानुराग है और यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो देश-प्रेम प्रसाद के नाटकों का प्रमुख अंग है । श्री ब्रजरत्नदास के शब्दों में प्रसाद जी का हृदय देशप्रेम से भरा

हुआ था, पर वह कर्मशील न होकर मानवशील ही अधिक थे । इसलिए देश हितकारी कार्यों में न हाथ बँटा सकने पर भी अपनी साहित्यिक रचनाओं से ही देश का जो उपकार कर सकते थे वही उन्होंने यथाशक्ति पूरी तौर से किया ।

वस्तुतः उनके सभी नाटकों में देशानुराग की प्रबलता है और प्राचीन भारत के इतने अधिक और गौरवपूर्ण चित्र उन्होंने अंकित किए हैं कि हमारा स्वर्णिम अतीत हमें प्रत्यक्ष दीख पड़ता है । देशप्रेम की एक अलौकिक स्रोतस्विनी हमारे मानस में भी निर्झरित होने लगती है और हम चन्द्रगुप्त की कार्नेलिया के साथ ही गाने लगते हैं –

अरूण यह मधुमय देश हमारा ।

जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा ।।

स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त में तो राष्ट्रप्रेम की भावना अन्य नाटकों की अपेक्षा अधिक निखरी हुई है तथा स्कंदगुप्त में बन्धुवर्ग से कहलाया भी गया है तुम्हारे शस्त्र बर्बर हूणों को बता दिया है कि रण–विद्या केवल नृशंसता नहीं है । जिनके आतंक से आज विश्वविख्यात रोम साम्राज्य पदाक्रान्त है, उन्हें तुम्हारा लोहा मानना होगा और तुम्हारे पैरों के नीचे दबे कंठ से उन्हें स्वीकार करना होगा कि भारतीय दुर्जय वीर है ।

इस प्रकार प्रसाद ने अधिक–से–अधिक त्याग, कष्ट, सहिष्णुता, देशसेवा व निःस्वार्थ बलिदान के चित्र प्रस्तुत किए हैं और प्राचीन भारतीय आदर्शों को प्रस्थापित करने में जो सफलता उन्हें प्राप्त हुई है वह हिन्दी संसार में किसी भी अन्य साहित्यकार को न मिल सकी ।

साथ ही नाटककार का लक्ष्य हमेशा जनकल्याण की भावनाओं को प्रधानता देना ही रहा है और वह यही चाहता है कि शासन जनकल्याण को ही सर्वोपरि समझे । इस प्रकार निरीह प्रजा की शोचनीय अवस्था पर नाटककार ने पात्रों के माध्यम से अश्रु भी बहाये हैं और 'स्कंदगुप्त' नाटक का मातृगुप्त तो मानों समसामयिक भारत की अवस्था का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करते हुए कहता है 'असहाय अवस्था में प्रार्थना के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं, आओ, हम लोग भगवान से विनती करें, इसके पश्चात् वह और मुद्गल भगवान से यही प्रार्थना करते हैं –

उतारोगे अब कब भू–भार ।।

बार–बार क्यों कह रक्खा था लूँगा मैं अवतार ।

उमड़ रहा है इस भूतल पर दुख का पारावार ।

बाड़व लूलिहान जिह्वा का करता है विस्तार ।

प्रलय पयोहार बरस रहे हैं रक्त अश्रु की धार ।

मानवता में राक्षसत्व का अब है पूर्ण प्रचार ।

पड़ा नहीं कानों में अब तक क्या यह हाहाकार ।

सावधान हो अब तुम जानो मैं तो चुका पुकार ।

यद्यपि राजेश्वर प्रसाद अर्गल ने प्रसाद के देशप्रेम को संकुचित भावनापूर्ण मानते हुए उन पर यह आरोप भी लगाया है कि वह अपने दशे के सामने दूसरे किसी भी देश की प्रशंसा नहीं सुन सकते यह आरोप निराधार ही है, क्योंकि वास्तविकता तो यह है कि प्रसाद का राष्ट्रप्रेम विश्वप्रेम में बाधक न होकर विश्वप्रेम का एक माध्यम है । अपनी नाट्यकृति राज्यश्री के अन्त में उन्होंने विश्व कल्याण व सुखी मानव समाज के लिए परम पिता परमात्मा से प्रार्थना

भी की है । अत: उनकी राष्ट्रीयता को संकुचित भावनापूर्ण मानना उचित नहीं ।

सच तो यह है कि उन्होंने संसार की आँखों को भारतीय संस्कृति की पुनीत झाँकी दिखाई और उनकी राष्ट्रीयता ने वह रूप धारण किया जो विश्व-भावना का तनिक भी विरोधी नहीं है । 'राज्यश्री' में उन्होंने हर्ष और राज्यश्री द्वारा लोकसेवा व आत्मत्याग का जो आदर्श प्रस्तुत किया है उसे देखकर चीनी यात्री ह्वेनसांग ने यही मनोकामना की थी कि भारत से मैने जो सीखा है वह अपने देश में सुनाऊँ । इस प्रकार प्रसाद के नाटकों में नाटककार की राष्ट्रीय भावना उज्ज्वल, तीव्र प्राणवान व त्यागमयी है और चन्द्रगुप्त नाटक की एक पात्री अलका द्वारा कथित प्रस्तुत गीत में समस्त राष्ट्र की ही ध्वनि विद्यमान है -

हिमाद्रि तुंगश्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती ।
स्वयं प्रभा-समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती ।।
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो ।
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो बढ़े चलो ।।

18.5 दार्शनिकता और नियतिवाद

प्रसाद की नाट्यकृतियों में दार्शनिकता भी है और वास्तव में प्रसाद जी एक भौतिक दार्शनिक थे तथा उनके दर्शन का वैभव उनके प्रत्येक नाटक में बिखरा पड़ा है । वस्तुत: प्रसाद साहित्य में एक नितांत नूतन दर्शन की धारा प्रवाहित हो रही है जो न तो हिन्दी के प्राचीन साहित्य में दृष्टिगोचर होती है और न आधुनिक साहित्य में ही । प्रसाद का दर्शन उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व और मौलिक चिन्तन का परिणाम है तथा उनके साहित्य की सम्पूर्ण चेतना ही एक दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आधारित है, अत: उसमें प्रसाद साहित्य में दर्शन की ठोस भूमि विद्यमान है ।

प्रसाद ने उपनिषदों व बौद्ध व शैव दर्शन का गहन अध्ययन किया था अत: उनका यह गम्भीर चिन्तन नाटकों में स्पष्टत: दीख पड़ता है तथा उनके अनेक नाटकीय पात्रों में भी दार्शनिकता का प्रभाव विद्यमान है । उदाहरणार्थ, हम देखते हैं कि अजातशत्रु में बिम्बसार एक वैराग्यपूर्ण हृदय से विश्व-जीवन का रसपान करता है ।

उदाहरणार्थ, संध्या का समीर ऐसा चल रहा है - जैसे दिनभर का तपा हुआ उद्विग्न संसार एक शीतल नि:श्वास छोड़कर अपना प्राण धारण कर रहा हो । प्रकृति की शांतिमयी मूर्ति निश्चल होकर भी मधुर झोंके से हिल जाती है । मनुष्य हृदय भी एक रहस्य है, एक पहेली है । जिन पर क्रोध करने से भैरव हुकार करता है, उसी पर स्नेह का अभिषेक करने के लिए प्रस्तुत करता है उन्माद । और क्या ? मनुष्य क्या इस पागल विश्व के शासन से अलग होकर कभी निश्चेष्टा नहीं ग्रहण कर सकता ? हाय रे मानव । क्यों इतनी दुरभिलाषाएँ बिजली की तरह तू अपने हृदय में आलोकित करता है ? क्या निर्मल ज्योति तारागण की मधुर किरणों के सदृश सद्वृत्तियों का विकास तुझे नहीं रुचता । भयानक भावुकता और उद्वेगजनक अन्त:करण लेकर क्यों तू व्यग्र हो रहा है ? जीवन की शान्तिमयी सच्ची परिस्थिति को छोड़कर व्यर्थ के अभिमान में तू कब तक पड़ा रहेगा । यदि मैं सम्राट न होकर विनम्र लता के कोमल किसलयों के झुरमुट में एक अधखिला फूल होता और संसार की दृष्टि मुझ पर न पड़ती - पवन की किसी लहर को सुरभित करके धीरे से उस थाले में चू पड़ता - तो इतना भीषण चीत्कार इस विश्व में न मचता । उस अस्तित्व को अनास्तित्व के साथ मिलाकर कितना सुखी होता । भगवान ! असंख्य ठोकरें खाकर लुढ़कते हुए जड़ ग्रह-पिंडों से भी तो इस

चैतन्य मानव की बुरी गत है । धक्के पर धक्के खाकर भी यह निर्लज्ज, सभा से नहीं निकलना चाहता । कैसी विचित्रता है ।'

इसी प्रकार राग-विराग के मध्य करूणा की धारा प्रवाहित करते हुए गौतम जीवन की दो आपत्तियों के बीच 'मध्यम प्रतिपदा' की पगडंडी खोजते हुए दीख पड़ते हैं । 'जनमेजय का नागयज्ञ' में व्यास एक दार्शनिक जीवनोपदेशक के रूप में अंकित है और स्वयं जनमेजय भी दार्शनिक भाग्यवादी कर्मयोगी है । इसी प्रकार 'स्कंदगुप्त' का स्कंदगुप्त वैराग्यपूर्ण राग को लिए अधिकार का भोग करते हुए कहता है 'अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है' तथा 'वैभव की जितनी कड़ियाँ टूटती हैं उतना ही मनुष्य बन्धनों से छूटता है और तुम्हारी ओर अग्रसर होता है ।'

चन्द्रगुप्त में दण्डयायन व चाणक्य भी दार्शनिक है और चाणक्य विश्व की निस्सारता की घोषणा करते हुए कहता है 'समझदारी आने पर यौवन चला जाता है, जब तक माला गूँथी जाती है, फूल मुरझा जाते हैं ।' स्कंदगुप्त की देवसेना भी विश्व के प्रति विरागपूर्ण दृष्टिकोण व्यक्त करते हुए कहती है 'सब क्षणिक सुखों का अन्त है । जिसमें सुख का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए ।'

वस्तुतः यह निर्यातवाद ही प्रसाद की नाट्यकृतियों में व्याप्त है और इसका मूल कारण स्पष्ट करते हुए प्रो० वासुदेव ने कहा भी है 'शैव-दर्शन का प्रभाव प्रसाद के मन-मस्तिष्क पर बहुत अधिक पड़ा था । शैवागमों में 'माया' के अनेक नाम बतलाए गए हैं । उनमें नियति भी एक है । यह जीव (मनुष्य) की स्वतंत्र बुद्धि और शक्ति का तिरस्कार किया करती है । अंग्रेजी में जिसे हम Fate (भाग्य) कहते हैं; वस्तुतः वह नियति है । Man Proposes and God disposes वाली अंग्रेजी कहावत को चरितार्थ करनेवाली यही नियति है । जीव की अभिलाषाओं का कोई अन्त नहीं है । वह अपनी सारी इच्छाओं को कार्यरूप में परिणत करना चाहता है । लेकिन नियति मानव-मन की इच्छाओं का विरोध करके कुछ दूसरा ही कार्य करा देती है । प्रसाद के समस्त नाटकों में इस नियति का बार-बार उल्लेख हुआ है । इसीलिए उनके आलोचकों ने उन्हें नियतिवादी कहा है । जीवन-संग्राम में उनके पात्र हारकर थक जाते हैं तब वे नियति की दुहाई देने लगते हैं । जनमेजय से प्रसाद ने कहलाया भी है 'मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है । क्या वह कर्म करने में स्वतंत्र है ?'' इसी प्रकार स्कंदगुप्त भी कहता है 'चेतना कहती है कि तू राजा है । और अन्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है - उसी खिलाड़ी वटपत्रशायी बालक के हाथों का खिलौना है ।

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रसाद ने नियतिवाद को प्रमुखता दी है, पर उनके नाटकीय पात्र नियति की शक्ति स्वीकार करते हुए भी कर्मरत है और नियति किसी भी पात्र की प्रगति में रोड़ा नहीं अटकाती । वस्तुतः प्रसाद के नाटकों में नियति केवल परम्परागत कहने की बात मात्र रह गयी है अन्यथा यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो उनमें नियतिवाद और कर्मयोग का सुन्दर सामंजस्य-सा दृष्टिगोचर होता है । यही कारण है कि प्रसाद के दर्शन का मूलाधार सुख-दुख की आँख-मिचौनी होते हुए भी उनके नाटकीय पात्र निश्चेष्ट व अकर्मण्य होकर नियति के सामने आत्मसमर्पण नहीं करते बल्कि जीवन संग्राम के अन्त तक लड़ते हैं । इसीलिए उन्हें पलायनवादी भी नहीं कहा जा सकता है ।

प्रसाद की नाट्यकृति 'राज्यश्री' में जब राज्य श्री दुखों के आघात से विचलित हो आत्महत्या करना चाहती है तब दिवाकर उसे संचेत करते हुए कहते हैं - 'देवि आत्महत्या या स्वेच्छा से मरने के लिए प्रस्तुत होना- भगवान

की अवज्ञा है । जिस प्रकार सुख-दुख उनके दान हैं- उन्हें मनुष्य झेलता है, उसी प्रकार प्राण भी उसी की धरोहर है ।' प्रसाद के जीवन दर्शन का यही मूल सार है और हम देखते हैं कि उनका लक्ष्य यही है कि जीवन के संघर्षों व द्वन्द्वों से भयभीत न होकर सुख-दुख में समन्वय स्थापित करने से ही वास्तविक आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। साथ ही प्रसाद की दार्शनिकता मानव पहुँच से दूर किसी सुदूर स्वर्ग के पीछे उन्मत्त हो इस धरती की उपेक्षा नहीं करती और उनका स्कंदगुप्त तो यही विश्वास करता है कि 'इसी पृथ्वी को स्वर्ग विदित होता है ।' इस प्रकार प्रसाद का दर्शन प्रेम उनके नाटकों का अभिन्न तत्त्व है और कथावस्तु में वह उसी प्रकार मिला है जिस प्रकार दूध में पानी ।

18.6 काव्य-तत्त्व और गीत योजना

डॉ० नगेन्द्र ने प्रसाद के नाटकों को 'मधु से वेष्टित' कहा है और चूँकि प्रसाद जी मूलत: कवि थे, अत: उनका नाट्यसाहित्य भी काव्य का वैभवपूर्ण भण्डार है तथा वस्तु-चयन, चरित्र-चित्रण, वातावरण, कथोपकथन, गीत, सारभूत प्रभाव और भाषा सभी में उनकी कविता सुरभि बिखरी पड़ी है ।

सामान्यत: प्रसाद का कविता-प्रेम उनकी नाट्यकृतियों के दो रूपों में अभिव्यक्त हुआ है और एक ओर तो जहाँ-तहाँ लेखक पात्रों के उद्‌गारों में भावोच्छवास की वृष्टि-सी करता जान पड़ता है तथा इन प्रसंगों को गद्यकाव्य की रस धाराएँ-सी निर्झरित जान पड़ती हैं जैसे 'अब मुझे अपने मूलचन्द्र को निर्विमेष देखने दो कि मैं एक अतीन्द्रिय जगत् की नक्षत्र मालिनी निशा को प्रकाशित करनेवाले शरच्चन्द्र की कल्पना करता हुआ भावना की सीमा में लाँघ जाऊँ, और तुम्हारा सुरभि नि:श्वास मेरी कल्पना का आलिंगन करने लगे ।'

स्कंदगुप्त नाटक के एम पात्र मातृगुप्त के कथन तो काव्यमय प्रलाप मात्र ही जान पड़ते हैं और चन्द्रगुप्त में भी अनेक काव्योच्छवास बिखरे पड़े हैं । उदाहरणार्थ 'अकस्मात् जीवन-कानन में एक राका-रजनी की छाया में छिपकर मधुर बसन्त घुस आता है । शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं । सौंदर्य का कोकिल 'कौन ! कहकर सबको रोकने टोकने लगता है, पुकारने लगता है । राजकुमारी में फिर उसी प्रेम का मुकुल लग जाता है । आँसू भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी उसमें छिपी रहती है ।

यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो इस प्रकार के उद्‌गारों में नाटककार की काव्य-प्रवृत्ति भले ही संतुष्ट न हो पर नाटक में इनका कुछ भी महत्त्व नहीं जान पड़ता और इन्हें अस्पष्ट रहस्यवादी गद्य-काव्य-खंड ही कहा जाना चाहिए ।

तथा कहीं-कहीं तो इनके कारण अरुचि भी होने लगती है, जैसे स्वर्णपिंजर में भी श्यामा को क्या वह सुख मिलेगा - जो उसे हरी डालों पर कसैले फलों को चखने में मिलती है ? मुक्त नील गगन में अपने छोटे-छोटे पंख फैला कर जब वह उड़ती है तब जैसी उसकी सुरीली तान होती है, उसके सामने तो सोने के पिंजड़े में उसका गान क्रन्दन ही है । उसी श्यामा की तरह जो स्वतंत्र है, राजमहल की परतन्त्रता से बाहर आई है । हसूँगी और हँसाऊँगी, रोऊँगी और रूलाऊँगी । फूल की सेज पर खेलूँगी । फूलों की धूल से अंगराग बनाऊँगी, चाहे उसमें कितनी ही कलियाँ क्यों न कुचलनी पड़े । चाहे कितनों ही के प्राण जाएँ, मुझे कुछ चिन्ता नहीं । कुम्हला कर फूलों को कुचल देने में मुझे सुख है ।'

प्रसाद के काव्यत्व का दूसरा रूप नाटकों में गीतों की अधिकता लेकर आया है और उनकी नाट्यकृतियों में गीतों की संख्या क्रमश: बढ़ती ही गई है । ध्रुवस्वामिनी और विशाख गीतों की संख्या अवश्य कम है, पर अजातशत्रु

में 21, जनमेजय का नागयज्ञ में 9, स्कन्दगुप्त में 16 और चन्द्रगुप्त में 11 गीत हैं । व्यावहारिक दृष्टि से भले ही ये नाटकीय गीत अनुपयुक्त समझे जाएँ और यह भी सम्भव है कि इसके कारण कथा-विकास में भी बाधा पड़ती हो तथा कार्य-व्यापार में भी शिथिलता आती हो पर काव्य-माधुरी की दृष्टि से तो उनका महत्त्व स्वीकार करना ही होगा ।

प्रसाद के नाटकीय गीतों का मूल्यांकन करते हुए डॉ० प्रेम शंकर ने कहा भी है 'इन नाट्य गीतों में कवि ने अपने भावी निर्माण के आरम्भिक प्रयोगों का अवसर लिया । कामायनी में जिन मानवीय भावनाओं, चित्रमयी रूपकों, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आदि का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप प्रस्तुत हुआ, उसके बीज इन गीतों में ही निहित है । कवि मानवीय मूल्यों को गहराई से पकड़ लेता है । जीवन के आधारभूत सत्य वह पा जाता है । सुख-दुख का समन्वित रूप काव्य-दर्शन के साथ ही जीवन सत्य के रूप में प्रस्तुत होता है । प्रसाद का यह रूप महाकाव्य में अधिक मुखर हो सका, किन्तु उसका संक्षिप्त स्वरूप गीतों में मिल जाता है । बौद्ध-दर्शन से प्रभावित लहर के गीतों में केवल एक विशेष दर्शन का आग्रह है । नाट्यगीतों में गौतम के भी उपदेश अजातशत्रु में है । किन्तु इसके अतिरिक्त जीवन की अन्य बहुमुखी अनुभूतियों का निर्देश कवि ने अपने नाट्यगीतों में किया । ये नाटकों के गीत भावना की विविधता, भाव की स्पष्टता और भाषा की सरल किन्तु मनोरम भंगिमा में झरना और लहर के गीतों से कुछ कम आकर्षक और प्रभावशाली नहीं है । इस प्रकार प्रसाद के नाटकीय गीत कवि कल्पना की प्रौढ़ता, अनुभूति की सहजता व गम्भीरता, भावों की उदात्तता और सौंदर्य चित्रण के उत्कृष्ट उदाहरण हैं, जैसे -

तुम कनक किरण के अंतराल में
लुक-छिपकर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते
यौवन के हास रस कन दरते
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो
मौन बने रहते हो क्यों ।

18.7 प्रेम भावना

प्रसाद की नाट्य कृतियों में प्रेम अनुपम अवलम्बन ही है, और प्राय: सभी नाटकों में प्रेम प्रवाह भी विद्यमान है । नाटककार ने एक ओर तो प्रेम को पूर्ण विकसित सफल दाम्पत्य-जीवन के रूप में प्रस्तुत किया है और दूसरी ओर प्रेम विरोधी रूप धारण कर असफल, निराशापूर्ण व पश्चाताप के रूप में अन्त पाता है ।

प्रथम कोटि का प्रेम अलका-सिंहरण, चन्द्रगुप्त-कार्नेजिया, ध्रुवस्वामिनी-चन्द्रगुप्त, मणिमाला-जनमेजय और वाजिरा-अजातशत्रु आदि में विकसित हुआ है तथा दूसरे प्रकार का प्रेम विजया का स्कन्दगुप्त से है और विरूद्धक का मल्लिका से । यह दूसरे प्रकार का प्रेम वासनाजन्य ही है और इस बाह्य-सौंदर्य व रूप यौवन के प्रलोभन से युक्त वासनाजन्य प्रेम को असफल ही माना गया है ।

इसके अतिरिक्त स्वच्छ व निर्मल ढंग का एक अन्य प्रकार का शुभ प्रेम भी प्रसाद के नाटकों में विद्यमान है और इस अतृप्त प्रेम का विकास देवसेना व स्कन्दगुप्त के चरित्रों में पूर्ण पराकाष्ठा को पहुँच गया है । अपने जीवन भर की आकांक्षा इन शब्दों में व्यक्त करते हुए देवसेना कहती है 'हृदय की कोमल कल्पना सो जा ! जीवन जिसकी

सम्भावना नहीं जिसके द्वार पर आए हुए को लौटा दिया था उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है ? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा - सबसे विदा लेती हूँ ।'

प्रसाद के नाटकों में मानव-प्रेम भी मुखरित है और प्राय: सभी नाटकीय पात्रों में एक उत्तेजना, हलचल व व्याकुलता व्याप्त है तथा विदग्ध व्यग्रता भी है । वस्तुत: उनके पात्रों में यह आकुलता, अशान्ति और विरह-विदग्ध ता इसीलिए है, क्योंकि प्रसाद जी विश्वशान्ति के इच्छुक थे ।

चूँकि विश्वशान्ति के लिए हिंसा और अहिंसा नामक दो प्रमुख उपाय कहे जाते हैं, अत: नाटककार ने इनका तुलनात्मक विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है और 'राज्यश्री' में हर्षवर्धन जब अपने भाई राज्यवर्धन व बहनोई ग्रहवर्मा की हत्या का प्रतिशोध लेने के लिए लड़ाइयाँ लड़ता है तथा बहुत अधिक नर-हत्या होती है तब राज्यश्री अपने भाई हर्ष को सचेत करते हुए कहती है - 'भाई हर्ष, यह रत्नजड़ित मुकुट तुम्हें भगवान ने इसीलिए नहीं दिया कि लाखों सिरों को तुम पैरों से ठुकराओ । मेरी शान्ति ढूँढ़कर तुमने उसे इतनी बड़ी नरहत्या में पाया ।

इसी प्रकार शान्दिव (विकटघोष) भी कहता है - 'शान्ति को मैंने देखा है, कितने शवों में वह दिखाई पड़ी । शान्ति को मैंने देखा है, दरिद्रों के भीख माँगने में । मैं उस शान्ति को धिक्कारता हूँ । साथ ही जिस हर्ष ने अपने पराक्रम से ऐश्वर्य प्राप्त किया था वह अपना सर्वस्व त्याग करता है और कहता है 'हम राजा होकर कंगाल बनने का अभ्यास करें । उसके सर्वस्व त्याग पर चीनी यात्री यह कहने के लिए बाध्य हो जाता है - 'यह भारत का देव-दुर्लभ त्याग सम्राट मुझे विश्वास हो गया कि यही अभिताभ की प्रसव भूमि हो सकती है ।'

18.8 नाटकीय तत्त्वों की योजना

वस्तुत: कथावस्तु पात्र, कथोपकथन, काल, उद्देश्य और शैली नामक नाटक के छह तत्त्व माने जाते हैं तथा प्रसाद के नाटकों में इन सभी का सम्यक निर्वाह भी हुआ है, अत: नाटकीय तत्त्वों की दृष्टि से भी उनकी नाट्यकला प्रशंसनीय है । उन्होंने वस्तु संविधान पर पूर्ण ध्यान दिया है और चूँकि उनके नाटकों में पाश्चात्य व भारतीय नाट्यकला का सफल, सुन्दर और उचित सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है, अत: एक ओर तो कथा में संधियाँ, अर्थ-प्रकृतियाँ, पताका व प्रकरी भी पाई जाती है तथा दूसरी ओर पाश्चात्य प्रणाली में उनका विश्वास भी पाँच विभागों में किया जा सकता है ।

इसी प्रकार संविधान सौष्ठव के लिए परिस्थिति-योजना का यथार्थ एवं प्रकृत रूप भी प्रस्तुत किया गया है और नाटकों का आरम्भ व अन्त भी नाटककार की विशेष कला का परिचायक है । प्राय: सभी नाटकों का प्रारंभ प्रभावशाली और कलापूर्ण तथा नाटकों का अन्त मौलिक ढंग - न तो दु:खान्त और न सुखान्त ही- से होता है । समीक्षक इसे प्रसादान्त या प्रशान्त कहते हैं और प्रसादान्त शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण 'स्कन्दगुप्त' है ।

चूँकि प्रसाद के सभी नाटक ऐतिहासिक हैं, अत: उनके पात्र भी प्राय: ऐतिहासिक व्यक्ति ही हैं और 'विशाख' के अतिरिक्त अन्य सभी नाट्यकृतियों के नायक भारत के सम्राट ही हैं । हर्ष, अजातशत्रु, जनमेजय, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त मौर्य और चन्द्रगुप्त धीरोदात्त नायक हैं तथा वीरता, आदर्श, त्याग के अनुपम उदाहरण और कष्ट-सहिष्णुता की मूर्तियाँ हैं । एक ओर तो उनके चरित्रों के निर्माण में 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त प्रयुक्त होता है और दूसरी ओर उनमें 'व्यक्ति-वैचित्र्य' का पाश्चात्य सिद्धान्त भी पाया जाता है ।

यही बात पात्रों के संबंध में भी कही जा सकती और प्रो० रामगोपाल सिंह चौहान के शब्दों में 'प्रसाद के सभी नाटकों में स्त्री-पुरुष पात्रों के तीन वर्ग किए जा सकते हैं - (1) सद्पात्र-जिनके अन्दर भारतीय दुर्बलताएँ तो हैं, पर वे उनसे संघर्ष करते हुए विकास करते जाते हैं, जैसे चन्द्रगुप्त, चाणक्य, मालविका, कल्याणी, मलव सेनापति, स्कन्द, पर्णदत्त, देवसेना, मातृगुप्त, बंधुवर्मा आदि । (2) असद् पात्र - जो छल, कपट, शठता और षड्यन्त्र के प्रतीक हैं जैसे आम्भीक, विकटघोष, प्रपंचबुद्धि, रामगुप्त, भटार्क, तक्षक, आदि (3) सामान्य पात्र - जिनमें सद्-असद् प्रवृत्तियाँ दोनो हैं और जो असद् प्रवृत्तियों की ओर झुके रहने पर भी अन्त में सुधर जाते हैं । प्रसाद के सभी नारी पात्र तो अन्त तक सुधर जाते हैं । वे पश्चाताप की अग्नि में जलकर अपने दोषों का परिमार्जन कर लेती हैं । शक्तिमती, छलना, सुरमा, विजया, अनन्त देवी आदि ऐसी ही नारियाँ हैं । इनके विपरीत बासवी, ध्रुवस्वामिनी, अलका, मालविका, कल्याणी, देवसेना आदि लज्जा, शक्ति, करूणा, उदारता और स्नेह की प्रतीक हैं ।

संस्कृत नाटकों की भाँति प्रसाद के नाटकों व पात्रों में स्थिरता नहीं है, वह एक ओर तो देवत्व और दूसरी ओर मानवत्व का प्रतीक न होकर, परिवर्तनशील अधिक है । इसीलिए प्रसाद के सद्पात्र अधिक संवेदनशील और जीवन के निकट हैं । इसीलिए उनके चरित्र का आदर्श यथार्थवादी आदर्श है । प्रसाद ने चरित्र-चित्रण में संस्कृत और पाश्चात्य सिद्धान्तों के सामंजस्य से यह विशेषता उत्पन्न कर हिन्दी नाट्यकला को एक नई देन प्रदान की है । इसी कारण उनके नाटक से परिपाक के योग्य होकर भी उद्देश्यपरक जीवन के लिए प्रयोजनीय भी हो गए हैं ।''

18.9 अभ्यास के प्रश्न

1. प्रसाद के नाटकों का वर्गीकरण एवं विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ।
2. प्रसाद के नाटक में ऐतिहासिकता, सांस्कृतिक चेतना और देशप्रेम का उल्लेख कीजिए ।
3. प्रसाद के नाटक में प्रेम भावना, नाटकीय तत्त्व की योजना, काव्य तत्त्व एवं गीति योजना का उल्लेख कीजिए ।

जयशंकर प्रसाद : लेखक परिचय

पाठ संरचना

19.0 उद्देश्य
19.1 परिचय
19.2 जयशंकर प्रसाद : व्यक्तित्व
19.3 जयशंकर प्रसाद : कृतित्त्व
19.4 अभ्यास के प्रश्न

19.0 उद्देश्य

सम्पूर्ण हिन्दी नाटक-साहित्य मे जयशंकर प्रसाद का स्थान मूर्धन्य है । यही कारण है कि छायावाद युग को हिन्दी नाट्य साहित्य के इतिहास में प्रसाद युग के नाम से जाना जाता है । इस इकाई का उद्देश्य साहित्यकार जयशंकर प्रसाद के व्यक्तित्व एवं कृतित्त्व से पाठकों को परिचित कराना है ।

19.1 परिचय

आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में छायावाद-युग स्वर्णयुग कहे जाने योग्य हैं । छायावाद के आधार स्तंभ चतुष्ट्य में जयशंकर प्रसाद का नाम अग्रगण्य है । प्रसाद सर्वतोन्मुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार थे । उन्होंने काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि सभी साहित्यिक विधाओं में छायावादी कल्पना एवं भावना के साथ विकसित किया । सभी नाट्य समीक्षक एक स्वर से यह मानते हैं कि प्रसाद ने हिन्दी नाट्य सृजन को नई शैली दी, नूतन प्राण प्रतिष्ठा की और सांस्कृतिक राष्ट्रीय संचेतना की भावोच्छ्वासपूर्ण अभिव्यक्ति की है । हिन्दी नाटक को साहित्यिक भूमिका देने का काम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया था । उस परम्परा को बढ़ाकर प्रसाद जी ने एक ऊँचाई दी । वे एक ऐतिहासिक नाटककार के रूप में प्रसिद्ध हैं । जयशंकर प्रसाद के मन पर तत्कालीन परिस्थितियों का गहरा प्रभव था । एक ओर राष्ट्रीय प्रेम, दूसरी ओर भारत के अतीत की पुनर्खोज की इच्छा और तीसरी ओर वर्तमान की दुर्बलता से लड़ने का साहस उनके नाटकों की प्रेरणा बने ।

19.2 जयशंकर प्रसाद : व्यक्तित्व

जयशंकर प्रसाद का जन्म 1889, माघ शुक्ल दशमी, संवत 1946 वि० को वाराणसी में हुआ । उनके पितामह श्री शिवरत्न साहु वाराणसी के अत्यंत प्रतिष्ठित नागरिक थे और एक विशेष प्रकार की सुरती (तम्बाकू) बनाने के कारण 'सुंघनी साहू' के नाम से विख्यात थे । उनकी दानशीलता सर्वविदित थी और उनके यहाँ विद्वान कलाकारों का

समादर होता था । जयशंकर प्रसाद के पिता देवी प्रसाद साहू ने भी अपने पूर्वजों की परंपरा का पालन किया । इस परिवार की गणना वाराणसी के अतिशय समृद्ध घरानों में थी और धन-वैभव का कोई अभाव न था । प्रसाद का कुटुम्ब शिव का उपासक था । माता-पिता ने उनके जन्म के लिए अपने इष्टदेव से बड़ी प्रार्थना की थी । बैद्यनाथ धाम के झारखण्ड से लेकर उज्जयिनी के महाकाल की आराधना के फलस्वरूप पुत्रजन्म स्वीकार कर लेने के कारण शैशव में जयशंकर प्रसाद को 'झारखण्डी' कहकर पुकारा जाता था । बैद्यनाथ धाम से ही इनका नामकरण संस्कार हुआ । जयशंकर प्रसाद की शिक्षा घर पर ही आरंभ हुई । संस्कृत, हिन्दी, फारसी, उर्दू के लिए शिक्षक नियुक्त थे । इनमें 'रसमय सिद्ध' प्रमुख थे । प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के लिए दीनबन्धु ब्रह्मचारी शिक्षक थे । कुछ समय बाद स्थानीय क्वीन्स कॉलेज में प्रसाद का नाम लिखा दिया गया । पर यहाँ पर वे आठवीं कक्षा तक ही पढ़ सके । प्रसाद एक अध्यवसायी व्यक्ति थे और नियमित रूप से अध्ययन करते थे ।

इनकी बारह वर्ष की अवस्था थी, तभी उनके पिता का देहान्त हो गया । इसी के बाद परिवार में गृहकलह आरंभ हुआ और पैतृक व्यवसाय को इतनी हानि पहुँची कि वही 'सुंघनी साहु' का परिवार जो वैभव में लोटता था, ऋण के भार से दब गया । पिता की मृत्यु के दो-तीन वर्षों के भीतर ही प्रसाद की माता का देहावसान हो गया और सबसे अधिक दुर्भाग्य का दिन वह आया, जब उनके ज्येष्ठ भ्राता शम्भूरत्न चल बसे तथा सत्रह वर्ष की अवस्था में ही प्रसाद का अधिकांश जीवन वाराणसी में ही बीता । उन्होंने अपने जीवन में केवल तीन-चार बार यात्राएँ की थीं, जिनकी छाया उनकी कतिपय रचनाओं से प्राप्त हो जाती है । प्रसाद को काव्यसृष्टि की आरम्भिक प्रेरणा घर पर होनेवाली समस्यापूर्तियों से प्राप्त हुई, जो विद्वानों की मण्डली में उस समय प्रचलित थी । यक्ष्मा के कारण कवि का देहान्त 15 नवम्बर 1937 ई० को हो गया ।

19.3 जयशंकर प्रसाद : कृतित्त्व

कहा जाता है कि नौ वर्ष की अवस्था में ही जयशंकर प्रसाद ने 'कलाधर' उपनाम से ब्रजभाषा में एक सवैया लिखकर अपने गुरु रसमयसिद्ध को दिखाया था । उनकी आरम्भिक रचनाएँ यद्यपि ब्रजभाषा में मिलती हैं, पर क्रमशः वे खड़ी बोली को अपनाते गए और इस समय उनकी ब्रजभाषा की जो रचनाएँ उपलब्ध हैं, उनका महत्त्व केवल ऐतिहासिक है । प्रसाद की ही प्रेरणा से 1909 ई० में उनके भांजे अम्बिका प्रसाद गुप्त के सम्पादनकत्व में 'इन्दु' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरंभ हुआ । प्रसाद इसमें नियमित रूप से लिखते थे और उनकी आरम्भिक रचनाएँ इसी के अंकों में देखी जा सकती हैं । कालक्रम के अनुसार 'चित्राधार' प्रसाद का प्रथम संग्रह है । इसका प्रथम संस्करण 1918 ई० में हुआ । इसमें कविता, कहानी, नाटक, निबन्ध सभी का संकलन था और भाषा ब्रज तथा खड़ीबोली दोनों थी । लगभग दस वर्ष बाद 1928 में जब इसका दूसरा संस्करण आया, तब इसमें ब्रजभाषा की रचनाएँ ही रखी गई । साथ ही इसमें प्रसाद की आरंभिक कथाएँ भी संकलित हैं । 'चित्राधार' की कविताओं को दो प्रमुख भागों में विभक्त किया जा सकता है । एक खण्ड उन आख्यानक कविताओं अथवा कथा काव्यों का है जिनमें प्रबन्धात्मकता है । अयोध्या का उद्धार, वनमिलन और प्रेमराज्य तीन कथाकाव्य इसमें संगृहीत है । 'अयोध्या का उद्धार' में लव द्वारा अयोध्या को पुनः बसाने की कथा है । इसकी प्रेरणा कालिदास का 'रघुवंश' है । 'वनमिलन' में अभिज्ञानशाकुंतलम्' की प्रेरणा है । 'प्रेमराज्य' की कथा ऐतिहासिक है । 'चित्राधार' की स्फुट रचनाएँ प्रकृतिविषयक तथा भक्ति और प्रेमसम्बन्धिनी है । कानन कुसुम 'प्रसाद' की खड़ीबोली की कविताओं का प्रथम संग्रह है । यद्यपि इसके प्रथम संस्करण में ब्रज़ और खड़ी बोली दोनों की कविताएँ हैं पर दूसरे संस्करण (1918 ई०) तथा तीसरे संस्करण (1929 ई०) में